अथ तृतीयं काण्डम्

अथ पञ्चमः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रु-सम्मोहन

अ॒ग्निर्नः॒ शत्रू॒न्प्रत्ये॑तु वि॒द्वान्प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम्।
स सेनां॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणवज्जा॒तवे॑दाः ॥ १ ॥

१. **अग्निः**=सम्पूर्ण सेना का नेतृत्व करनेवाला (अग्रणी) **विद्वान्**=ज्ञानी-समझदार-युद्ध-विद्याओं में कुशल राजा **नः**=हमारे **शत्रून् प्रति एतु**=शत्रुओं के प्रति आक्रमण करनेवाला हो। राजा के लिए आवश्यक है कि वह अग्नि हो—सैन्य सञ्चालन में निपुण हो तथा समझदार हो। 'कहाँ आगे बढ़ना है, कहाँ पीछे हटना है'—इस सबको समझता हो। २. **अभिशस्तिम् अरातिम्**=विनाशक शत्रु को **प्रतिदहन्**=भस्म करता हुआ यह आगे बढ़े। **सः**=वह राजा **परेषां सेनाम्**=शत्रुओं की सेना को **मोहयतु**=मोहावस्था में प्राप्त करा दे, शत्रु-सैन्य की बुद्धि चकरा जाए, वे इसकी चाल को पूरा-पूरा समझ न सकें **च**=और यह **जातवेदाः**=शत्रु-सैन्य की प्रत्येक गतिविधि को समझनेवाला इसप्रकार अस्त्रों का प्रयोग करे कि उन्हे **निर्हस्तान् कृणवत्**=आयुधग्रहण में असमर्थ हाथोंवाला कर दे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के शत्रुओं पर आक्रमण करे, आग्नेयास्त्रों से उन्हें भस्म कर दे। मोहनास्त्र से शत्रु-सैन्य को मूढ़ बना दे, उनके हाथ शस्त्रग्रहण में समर्थ न रहें।

सूचना—यहाँ इसप्रकार के अस्त्र के प्रयोग का संकेत स्पष्ट है कि जिससे शत्रु-सैन्य चेतना खो बैठता है और उसके हाथों में से अस्त्र-शस्त्र गिर पड़ते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वीर-प्रेरणा

यू॒यमु॒ग्रा म॑रुत ई॒दृशे॑ स्था॒भि प्रेत॑ मृ॒णत॒ सह॑ध्वम्।
अमी॑मृण॒न्वस॑वो ना॒थि॒ता इ॒मे अ॒ग्निर्ह्ये॑षां दू॒तः प्र॒त्येतु॑ वि॒द्वान् ॥ २ ॥

१. राजा सैनिकों से कहता है कि हे **मरुतः**=(म्रियन्ते न निवर्तन्ते) युद्ध में पीठ न दिखानेवाले वीरो! **ईदृशे**=ऐसी अव्यवस्था में जबकि शत्रु का भयंकर संकट उपस्थित है **यूयम्**=तुम सब **उग्राः**=तेजस्वी **स्थ**=बनो। **अभिप्रेत**=शत्रु की ओर प्रकर्षेण बढ़ो, **मृणत**=शत्रु-सैन्य को मसल डालो, **सहध्वम्**=उसे पराजित करनेवाले होओ। २. **नाथिताः**=राजा से इसप्रकार कहे हुए (नाथ=to beg, to ask for) **इमे**=ये **वसवः**=प्रजाओं के निवास को उत्तम बनानेवाले वीर **अमीमृणन्**=सब ओर शत्रुओं को मसल डालते हैं। शत्रुओं को विनष्ट करके ही तो ये प्रजाओं के जीवन को सुखी बना पाएँगे। **एषाम्**=इन सैनिकों का **अग्निः**=नेतृत्व करनेवाला राजा **हि**=निश्चय से **विद्वान्**=शत्रुओं की गतिविधियों से पूर्ण परिचित होता हुआ **दूतः**=शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला होकर **प्रति एतु**=शत्रु-सैन्य की ओर जानेवाला हो।

भावार्थ—राजा सैनिकों को उत्साहित करे। वीर-प्रेरणा को प्राप्त सैनिक शत्रुओं को पराजित

करनेवाले हों, राजा स्वयं सेनाओं का नेतृत्व करे और प्रबल आक्रमण द्वारा शत्रुओं को समाप्त कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा व सेनापति

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति॥ ३॥

१. यद्यपि राष्ट्र की सेनाओं का मुख्य सेनापति राजा ही होता है और यह यहाँ 'अग्नि' नाम से कहा गया है, तो भी सेनाओं का सीधा (immediate) अध्यक्ष 'सेनापति' ही होता है। वह यहाँ 'इन्द्र' नाम से कहा गया है। इन्द्र, अर्थात् स्वामी होता हुआ शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला। यह 'वृत्रहा' है—राष्ट्र को छेदनेवाले शत्रुओं का विनाशक है। यह 'मघवा' है—Liberal, munificent,—उदार, धन देनेवाला। सैनिकों के प्रति उदार रहता हुआ ही यह सैनिकों का प्रिय होता है। कृपण सेनापति कभी सैनिकों का प्रिय नहीं बन पाता। वह सैनिकों को पूर्ण उत्साह से युद्ध भी नहीं करा पाता। इस इन्द्र से कहते हैं कि **अस्मान् शत्रूयतीम्**=हमारे प्रति शत्रु की भाँति आचरण करती हुई **अमित्रसेनाम्**=शत्रुओं की सेना को हे **मघवन्**=उदार सेनापते! **अभि**=तू आक्रान्त करनेवाला हो। २. हे **वृत्रहन्**=राष्ट्र के आवरक शत्रु का हनन करनेवाले **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू **च**=और **अग्निः**=यह राष्ट्र का राजा **युवम्**=तुम दोनों **तान्**=उन शत्रु-सेनाओं को **प्रतिदहतम्**=एक-एक करके भस्म कर दो। शत्रु-सैन्य को समाप्त करके ही तुम राष्ट्र-रक्षण करनेवाले होओगे।

भावार्थ—राजा व सेनापति सैनिकों के प्रति उदार वृत्तिवाले होते हुए शत्रु-सैन्य पर आक्रमण करें और उसे भस्म कर दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रबल आक्रमण से शत्रुओं की व्याकुलता

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापति! **हरिभ्याम्**=रथ का हरण करनेवाले—रथ को तीव्र गति से ले-चलनेवाले अश्वों से **प्रसूत**=प्रेरित हुआ-हुआ तेरा रथ **प्रवता**=(प्रवत्=Easy passage) सरल मार्ग से—बाधाशून्य मार्ग से **एतु**=गतिवाला हो और **ते**=तेरा **वज्रः**=वज्र **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणन्**=काटता हुआ **प्रएतु**=प्रकर्षेण गतिमय हो। २. तू **प्रतीचः**=अभिमुख प्राप्त होनेवाले, **अनूचः**=पीछे की ओर से आनेवाले **पराचः**=भागकर दूर जानेवाले शत्रु-सैन्यों को **जहि**=नष्ट कर। **एषाम्**=इन शुत्रओं के **सत्यम्**=शत्रुहनन लक्षणमात्र कार्य में उद्यत व व्यवस्थित **चित्तम्**=चित्त को **विष्वक्**=सर्वतः अञ्चनशील, अर्थात् अव्यवस्थित, कार्याकार्य विभाग-ज्ञान-शून्य **कृणुहि**=कर दे, अर्थात् उन्हें घबराहट में डाल दे।

भावार्थ—सेनापति का वज्र शत्रुओं में इसप्रकार मार-काट करनेवाला हो कि वे घबरा जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरउष्णिक्** ॥

मोहन-अग्नेय तथा वायव्यास्त्र

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्। अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सेनाम्**=सेना को **मोहय**=मूढ़

बना दे। मोहनास्त्र के प्रयोग से वे चेतनाशून्य हो जाएँ अथवा प्रबल मारकाट से वे घबरा जाएँ। २. **अग्नेः**=अग्नि की तथा **वातस्य**=वायु की **ध्राज्या**=प्रबल गति से, अर्थात् आग्नेयास्त्र के प्रबल आक्रमण से **तान्**=उन शत्रुओं को **विषूचः**=विविध दिशाओं में गतिवाला करके—खदेड़कर **विनाशय**=नष्ट कर दे।

भावार्थ—सेनापति मोहनास्त्र, आग्नेयास्त्र व वायव्यास्त्र के प्रयोग से शत्रुओं को विद्रुत कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र, मरुत् व अग्नि

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा। चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः**=सेनापति **सेनाम्**=शत्रु-सेना को **मोहयतु**=मोह में डाल दे—उनके चित्त अव्यवस्थित हो जाएँ, प्रबल आक्रमण से घबराकर उन्हें कर्त्तव्याकर्तव्य की समझ ही न रहे। **मरुतः**=सैनिक **ओजसा**=पूर्ण आजस्विता के साथ, शूरता के साथ **घ्नन्तु**=आक्रमण करके शत्रुओं को मारनेवाले हों। २. **अग्निः**=आग्नेयास्त्रों का प्रयोग **चक्षूंषि आदत्ताम्**=शत्रुओं की आँखों को छीन ले, अर्थात् शत्रुओं की आँखें चुँधिया जाएँ। इसप्रकार वह शत्रुसेना **पराजिता**=पराजित हुई-हुई **पुनः एतु**=फिर वापस भाग जानेवाली हो।

भावार्थ—इन्द्र, मरुत् व अग्नि—सेनापति, सैनिक व अग्नेयास्त्रों का प्रयोग—ये सब शत्रुओं को परजित करके भगा दें।

विशेष—सूक्त का विषय 'शत्रुसेना के विनाश के द्वारा राष्ट्र का रक्षण' है। अगले सूक्त का विषय भी यही है। ऋषि, देवता भी वही है। प्रथम मन्त्र भी एक-आध शब्द के परिवर्तन के साथ वही है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निर्हस्तीकरण

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

१. **नः**=हमारे राष्ट्र का यह **अग्निः**=अग्रणी—राष्ट्र का प्रमुख नेता—राष्ट्रपति **दूतः**=शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला है। यह **विद्वान्**=शत्रुओं की गतिविधि से पूर्ण परिचित होता हुआ **प्रतिएतु**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो। यह **अभिशस्तिम्**=नाश करनेवाले **अरातिम्**=शत्रु को **प्रति दहन्**=एक-एक करके दग्ध करनेवाला हो। २. **सः**=वह **परेषाम्**=शत्रुओं के **चित्तानि**=चित्तों को **मोहयतु**=मोह में डाल दे। उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सूझ ही न रहे **च**=और यह **जातवेदाः**=शत्रुओं की प्रत्येक गतिविधि-को जाननेवाला **निर्हस्तान् कृणवत्**=शत्रुओं को आयुधग्रहण में असमर्थ हाथोंवाला कर दे।

भावार्थ—राष्ट्रपति शत्रुओं पर ऐसा प्रबल आक्रमण करे कि उन शत्रुओं में आयुधग्रहण का सामर्थ्य ही न रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गृह से भी निर्वासन

अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि। वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

१. **अयं अग्निः**=यह राष्ट्रपति, गतमन्त्र के अनुसार, प्रबल आक्रमण के द्वारा **वः हृदि**=तुम्हारे (शत्रुओं के) हृदयों में **यानि चित्तानि**=जो चित्त हैं, नष्ट करने की भावनाएँ हैं, उन्हें **अमूमुहत्**=मोह-अवस्था में ले-जाए। वे चित्त चेतनाशून्य हो जाएँ। हमें नष्ट करने के तुम्हारे स्वप्न समाप्त हो जाएँ। २. यह अग्नि तुम्हारा पीछा करता हुआ **वः**=तुम्हें **ओकसः**=तुम्हारे घरों में से भी **विधमतु**=सन्तप्त करके निकाल दे। **वः**=तुम्हें **सर्वतः**=सब ओर **प्रधमतु**=खूब ही सन्तप्त कर दे। तुममें भाग-दौड़ मच जाए और तुम कहीं भी रुक न पाओ।

भावार्थ—शत्रुओं को उनके घर से भी खदेड़ दिया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रु-विद्रावण

इन्द्रं चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर। अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय॥ ३॥

१. हे **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापते! **चित्तानि मोहयन्**=शत्रुओं के चितों को मूढ़ बनाता हुआ तू **आकूत्या**=शत्रुओं के विध्वंस के संकल्प के साथ **अर्वाङ् चर**=हमारे समीप प्राप्त हो, अर्थात् शत्रु-नाश का दृढ़-संकल्प लिये हुए तू हमें प्राप्त हो। ऐसा होने पर ही सबका उत्साह बना रहना सम्भव है। २. **अग्नेः**=आग्नेयास्त्रों तथा **वातस्य**=वायव्यास्त्रों के **ध्राज्या**=वेग से **तान्**=उन शत्रुओं को **विषूचः**=जो विविध दिशाओं में भागनेवाले हैं **विनाशय**=नष्ट कर। शत्रुओं पर इन अस्त्रों की ऐसी बौछार हो कि वे तितर-बितर होकर नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति दृढ़ निश्चय के साथ शत्रुओं पर आक्रमण करे और उन्हें चारों ओर भगा दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रु-संकल्प-विनाश

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत। अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ये शत्रु ऐसे घबरा जाएँ कि हे **व्याकूतयः**=विरुद्ध संकल्पो! तुम **एषाम्**=इन शत्रुओं के मनों को **इत**=प्राप्त होओ। शत्रुपक्ष का कोई व्यक्ति कुछ कहे और कोई कुछ। उनमें मतैक्य न हो। **अथ उ**=और अब **चित्तानि**=हे शत्रुओं के चित्तो! **मुह्यत**=तुम भी किंकर्त्तव्यमूढ़ हो जाओ। इनके चित्त इसप्रकार व्याकुल हो जाएँ कि ये कुछ समझ ही न सकें—ये किसी निश्चय पर न पहुँच सकें। २. हे इन्द्र! तू इनपर इसप्रकार प्रबल आक्रमण कर कि **अथ उ**=अब निश्चय से **यत्**=जो **अद्य**=आज **एषां हृदि**=इनके हृदय में हो **एषाम्**=इनके **तत्**=उस संकल्प को **परिनिर्जहि**=सर्वथा नष्ट कर दे। ये ऐसे घबरा जाएँ कि अपने सारे संकल्पों को भूलकर ये अपने जीवन को बचाने के लिए भाग खड़े हों।

भावार्थ—सेनापति शत्रुओं पर ऐसा प्रबल आक्रमण करे कि उनके युद्ध-विषयक सब संकल्प विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यौः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मूढ़ता-जड़ता, शोक, अँधेरा

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्॥ ५॥

१. हे **अप्वे**=(व्याधिर्वा भयं वा—नि० ६.१२) भय! **अमीषाम्**=हमारे इन शत्रुओं के **चित्तानि**=चित्तों को **प्रतिमोहयन्ती**=अत्यन्त मूढ़ बनाता हुआ तू **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों

को जकड़ ले। इनके अङ्ग भय से ऐसे जड़ हो जाएँ कि ये अपने-अपने कार्यों को करने में भी असमर्थ हो जाएँ। **परा इह**=हमसे तू दूर ही रह। हम निर्भय होकर शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हों। २. **अभि प्र इह**=तू शत्रुओं की ओर प्रकर्षेण प्राप्त हो। **शोकैः**=शोक की भावनाओं से **हृत्सु**=हृदयों में **निर्दह**=इन शत्रुओं को दग्ध करनेवाला हो। **ग्राह्या**=सब व्यापारों को निगृहीत करनेवाले **तमसा**=अन्धकार से इन **अमित्रान्**=हमारे प्रति स्नेह-शून्य **शत्रून्**=शत्रुओं को **विध्य**=तू बींधनेवाला हो। ये अन्धकार से ग्रस्त होकर कोई कार्य कर ही न सकें।

भावार्थ—शत्रुओं को ऐसा भय प्राप्त हो जो उनके चित्तों को मूढ़ बना दे, अङ्गों को जड़ीभूत कर दे, हृदयों को शोकयुक्त कर दे और उन्हें अँधेरा-ही-अँधेरा लगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अँधेरा-ही-अँधेरा

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥ ६॥

१. **मरुतः**=हे सैनिको! **असौ या**=वह जो **परेषां सेना**=शत्रुओं की सेना **स्पर्धमाना**=हमारे साथ संघर्षण की कामना करती हुई **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अस्मान् अभि एति**=हमारी ओर आती है **ताम्**=उसे **अपव्रतेन तमसा**=जिसमें कर्मों का सम्भव ही न हो ऐसे अन्धकार से **विध्यत**=बींध डालो। ऐसे बींध डालो **यथा**=जिससे **एषाम्**=इनमें से **अन्यः अन्यम्**=एक दूसरे को **न जानात्**=न जान पाये। इतना घना अन्धकार हो जाए कि शत्रु एक-दूसरे को भी न देख सकें। २. इसप्रकार ये मरुत् प्रबल आक्रमण करें कि शत्रुओं को अन्धकार-ही-अन्धकार प्रतीत हो—उन्हें कुछ दिखे ही नहीं। व्याकुलता के कारण उन्हें अँधेरा-ही-अँधेरा प्रतीत हो।

भावार्थ—हमारे सैनिकों का आक्रमण इतना प्रबल हो कि शत्रु-सैन्य को अँधेरा-ही-अँधेरा लगे। वे कुछ भी न देख सकें।

सूचना—यहाँ ऐसे अस्त्र के प्रयोग का भी संकेत है जो चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार कर देता है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त राष्ट्र-रक्षा का वर्णन कर रहा है। अगले सूक्त में राष्ट्ररक्षक राजा के लिए कहते हैं कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आदर्श जीवन

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्य चस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम्॥ १॥

१. 'कैसे व्यक्ति को राजा बनना चाहिए' उसका संकेत करते हुए कहते हैं कि **अचिक्रदत्**=यह खूब ही प्रभु का आह्वान करता है और **इह**=यहाँ **स्वपाः**=(स्व-पा) अपना रक्षण करनेवाला **भुवत्**=होता है—अपने को वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता, अथवा 'सु+अपा' उत्तम कर्मोंवाला होता है। प्रभु का स्मरण इसे मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता। २. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **उरूची**=(उर्वञ्चने) विशाल गतिवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **व्यचस्व**=व्यापक बनानेवाला हो। 'द्यावा' मस्तिष्क है और 'पृथिवी' शरीर है। तू मस्तिष्क और शरीर को व्यापक शक्तिवाला बना। तेरा शरीर पृथिवी की भाँति दृढ़ हो तो तेरा मस्तिष्क द्युलोक के समान ज्ञान-विज्ञान के

सूर्य व नक्षत्रों से उज्ज्वल हो। ३. **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनोंवाले **मरुतः**=प्राण **त्वा**=तुझे **युञ्जन्तु**=प्राप्त हों अथवा तुझे योगयुक्त करें। प्राणसाधना से शरीर में सोम (वीर्य) की ऊर्ध्वगति होकर शरीर के सब कोश बड़े सुन्दर बनते हैं। अन्नमयकोश तेजस्वी हो जाता है, तो प्राणमय वीर्यवान् और मनोमय ओजस्वी और बलवान् बनता है। इस प्राणसाधना से विज्ञानमयकोश ज्ञानपूर्ण होता है तो आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला बनता है एवं, ये मरुत् 'विश्ववेदस' हैं। ४. तू **नमसा**=नमन के द्वारा **अमुम्**=उस **रातहव्यम्**=सब हव्य (पवित्र) पदार्थों को देनेवाले प्रभु को **आनय**=अपने में प्राप्त करनेवाला हो। नमन के द्वारा तू हृदय में प्रभु का दर्शन करनेवाला बन। ५. राजा का ऐसा जीवन प्रजा को भी उत्तम बना सकेगा।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक हम उत्तम कर्मोवाले हों। शरीर व मस्तिष्क दोनों का विकास करें। प्राणसाधना के द्वारा सब कोशों को सबल बनाएँ और नमन के द्वारा प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सौत्रामणी याग

दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

१. **दूरे चित् सन्तम्**=अज्ञानियों से अत्यन्त दूर होते हुए **विप्रम्**=विशेषरूप से सारे ब्रह्माण्ड का पूरण करनेवाले (वि+प्रा पूरणे) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अरुषासः**=ज्ञान-ज्योति से आरोचमान अथवा (अ-रुष) क्रोध से शून्य व्यक्ति **सख्याय**=मित्रता के लिए **आच्यावयन्तु**=समन्तात् अपने समीप प्राप्त कराएँ। प्रभु को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञानदीप्त बनें और (ख) क्रोध आदि से अपने को दूर रक्खें। अज्ञानी व क्रोधी व्यक्ति को प्रभु का दर्शन नहीं होता। २. **देवाः**=सूर्य, वायु, अग्नि अथवा माता-पिता, आचार्य आदि सब देव **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **यत्**=जब **सौत्रामण्या**=(सु+त्रामणी) उत्तम, रक्षणात्मक कार्यों के द्वारा **गायत्रीम्**=गायत्री को (गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण को **बृहती**=(बृहि वृद्धौ) हृदय की विशालता को तथा **अर्कम्**=सूर्यसम ज्ञान-दीप्ति का **दधृषन्त**=धारण करते हैं, तभी यह ज्ञान-दीप्त बनता है। यह उनका सौत्रामणी यज्ञ है। इस यज्ञ में वे बालक का बड़ी उत्तमता से रक्षण करते हैं। इस रक्षण का ही परिणाम होता है कि वे सन्तान में 'गायत्री, बृहती व अर्क' की स्थापना कर पाते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य जब सन्तानों को प्राणशक्ति-सम्पन्न, विशाल हृदय व ज्ञान-दीप्त बनाते हैं तब ये ज्ञान-दीप्त पुरुष प्रभु को अपना मित्र बना पाते हैं, प्रभु को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर पाते हैं।

सूचना—गतमन्त्र का 'आदर्श जीवन' इन माता-पिता व आचार्य द्वारा किये जानेवाले सौत्रामणी याग से ही होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिक्पङ्क्तिः** ॥

वरुण+सोम+इन्द्र=श्येन

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥

१. **राजा**=जीवन को व्यवस्थित करनेवाला (regulated) **वरुणः**=पाप से निवारित करनेवाला **त्वा**=तुझे **अद्भ्यः**=शरीरस्थ रेतःकणों के रक्षण के लिए **ह्वयतु**=पुकारे, अर्थात् जीवन को

व्यवस्थित बनाकर, काम-क्रोध से अपने को बचाता हुआ तू रेत:कणों का रक्षण करनेवाला बन। २. **सोमः**=सोम **त्वा**=तुझे **पर्वतेभ्यः**=पर्वतों के लिए **ह्वयतु**=पुकारे। 'पर्व पूरणे' से पर्वत शब्द बना है। यह यहाँ न्यूनताओं को दूर करके पूर्णता की प्राप्ति का सूचक है। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठता **त्वा**=तुझे **आभ्यः विड्भ्यः**=इन प्रजाओं के लिए **ह्वयतु**=बुलाये। जितेन्द्रिय पुरुष के ही सन्तान उत्तम होते हैं। सन्तानों की उत्तमता के लिए जितेन्द्रियता आवश्यक है। राष्ट्र में भी राजा जितेन्द्रिय होकर ही प्रजाओं का नियमन कर पाता है—**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः**। ४. **श्येनः**=शीघ्रगतिवाला **भूत्वा**=होकर **इमाः विशः**=इन प्रजाओं को **आपत**=सर्वथा प्राप्त हो—इनमें सब ओर गतिवाला हो। राजा को अकर्मण्य न होकर खूब क्रियाशील होना चाहिए। इस क्रियाशीलता के लिए ही वह 'व्यवस्थित जीवनवाला, सौम्य व जितेन्द्रिय' बना था। ये सब गुण उसे खूब क्रियाशील बनाते हैं। एक पिता भी क्रियाशील होने पर सन्तान को सुप्रभावित कर पाता है।

भावार्थ—हम 'व्यवस्थित जीवनवाले, सौम्य व जितेन्द्रिय' बनकर 'क्रियाशील' हों। ऐसा होने पर ही हम उत्तम प्रजाओं का निर्माण कर सकेंगे।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में यह भी संकेत है कि प्रथम आश्रम का सूत्र 'राजा व वरुण बनकर रेत:कणों का रक्षण' है। द्वितीय आश्रम का 'सोम बनकर न्यूनताओं को न आने देना' है। तृतीयाश्रम का 'जितेन्द्रियता' तथा चतुर्थाश्रम का परिव्राजक बनकर 'प्रजाहित' में प्रवृत्त होना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वक्षेत्र-स्थापन

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम्॥ ४॥

१. **श्येनः**=गतिशील राजा **अन्यक्षेत्रे**=दूसरे के क्षेत्र में **अपरुद्धम्**=ग़लत कामों में, उसके न करने योग्य कार्यों में फँसे हुए **चरन्तम्**=विषयों का चरण करते हुए पुरुष को **परस्मात्**=उस अन्य क्षेत्र से **हव्यम्**=(ह्वातव्यम्=अदने) हव्य की ओर **आनयतु**=सर्वथा अपने-अपने कार्य में स्थापित करे। कोई दूसरे के क्षेत्र में पग न रक्खे। अपना-अपना कार्य ही सब ठीक ढंग से करें। 'क्षेत्र' शब्द पत्नी के लिए भी प्रयुक्त होता है। तब अर्थ होगा कि यदि कोई व्यक्ति ग़लती से पर-पत्नीयों में रुद्ध होकर गति करता है तो राजा उसे उस दुष्कर्म से हटाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। २. हे राजन् ! **अश्विना**=प्राणापान ते **पन्थाम्**=तेरे मार्ग को **सुगं कृणुताम्**=सुखपूर्वक जाने योग्य करें, अर्थात् प्राणापान की साधना से राजा इसप्रकार सशक्त हो कि वह अपने इन दुष्कर कार्यों को भी सुगमता से कर सके। राजा राष्ट्र में भी ऐसी व्यवस्था करे कि लोगों की प्राणापान की साधना की वृत्ति बने, जिससे वे ग़लत कार्यों को करें ही नहीं। ३. हे **सजाताः**=इस राजा के साथ अथवा समान जन्मवाले राजघराने के पुरुषो! **इमं, अभि संविशध्वम्**=तुम भी इस राजा के समीप होते हुए राजा की सेवा करनेवाले बनो, अर्थात् इसके राजकार्यों में तुम भी सहायक होओ। राजघराने के अन्य व्यक्तियों को भी उचित प्रशिक्षण दिया जाए और वे भी राजा के साथ राजकार्यों में सहायक हों, अन्यथा 'मृगया' आदि दुर्व्यसनों में पड़कर वे राष्ट्र पर 'भार' ही हो जाएँगे।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य है कि वह सबको स्वक्षेत्र में स्थापित करे, स्वयं प्राणसाधना करता हुआ औरों को भी प्राणसाधना में प्रवृत्त करे। सजात राजघराने के पुरुषों को भी राजकार्यों में शिक्षित करके उनमें व्यापृत रहनेवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रिविध शान्ति

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन्॥ ५॥

१. **प्रतिजनाः**=प्रत्येक व्यक्ति—छोटे-बड़े सभी व्यक्ति **त्वा**=तुझे **ह्वयन्तु**=पुकारें। सभी के लिए तू अभिगम्य (Approachable) हो। प्रजाओं के साथ तेरा सम्पर्क बना रहे। प्रजाओं की स्थिति से तू अच्छी प्रकार परिचित हो। **प्रतिमित्राः**=तेरे सब साथी **अवृषत**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाले हों, अर्थात् आवश्कता के समय वे तुझे सहायता देनेवाले हों। राजा राष्ट्र में प्रजाओं का प्रिय हो। राष्ट्र के बाहर मित्रमण्डल उसका सहायक हो। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि तथा **विश्वे देवाः**=सब देव **ते विशि**=तेरी प्रजा में **क्षेमम्**=कल्याण को **अदीधरन्**=धारण करें। राष्ट्र में किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्तियाँ न आएँ। यज्ञादि उत्तम कार्यों के प्रणयन से सब देवों की अनुकूलता बनी रहे। ३. '**ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः**' इन शब्दों में राष्ट्र में अन्तःकोप न होने का संकेत है। प्रजाप्रिय राजा के राज्य में अन्तर्विप्लव नहीं हुआ करते। राष्ट्र हड़ताल आदि के उपद्रवों से बचा रहता है। '**प्रतिमित्रा अवृषत**' ये शब्द बाहर के आक्रमणों से बचाव का संकेत करते हैं और मन्त्र का उत्तरार्ध दैवी प्रकोपों के न होने का उल्लेख कर रहा है। इसप्रकार राष्ट्र अन्तःशान्ति तथा बहिःशान्ति को प्राप्त करके दैवी आपत्तियों के अभाव में निरन्तर आगे बढ़ता जाता है।

भावार्थ—राजा प्रजा के लिए अभिगम्य हो, मित्रशक्ति से युक्त हो। राष्ट्र दैवी प्रकोपों से बचानेवाला हो। यज्ञादि की व्यवस्था तथा स्वाध्याय के प्रचार के द्वारा ही यह सम्भव है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजाज्ञा के पालन की आवश्कता

यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=राष्ट्र के शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **यः**=जो **सजातः**=तेरे समान उत्कृष्ट कुल में जन्म लेनेवाला 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य' **यः च**=और जो **निष्ट्यः**=निचले घराने में जन्म लेनेवाला 'शूद्र' ते **हवम्**=तेरे आदेश को **विवदत्**=पालन न करता हुआ विवाद का विषय बनाये **तम्**=उस सजात या निष्ट्य पुरुष को **अपाञ्चम्**=(अप अञ्च) राष्ट्र से बहिर्गमनवाला **कृत्वा**=करके, अर्थात् राष्ट्र से निर्वासित करके **अथ**=अब **इमम्**=इस आदेश को **इह**=राष्ट्र में **अवगमय**=सबके लिए अवगत करानेवाला हो, अर्थात् घोषणा के द्वारा उस आदेश से सबको परिचित करा दे। २. राजा को समय-समय पर राष्ट्रहित के लिए आदेश प्रसृत करने हैं। यदि कोई व्यक्ति उन आदेशों का विरोध करके अराजकता फैलाने का प्रयत्न करता है तो उसे प्रजा से पृथक् करना आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि राजा का आदेश सबके कानों तक पहुँचाने की व्यवस्था की जाए।

भावार्थ—राजाज्ञा का पालन सबके लिए आवश्यक है, अन्यथा अराजकता में सबके लिए भयावह स्थिति हो जाती है।

विशेष—सूक्त का विषय यह है कि राजा अपने जीवन को उच्च बनाये, सबको स्वधर्म में स्थापित करे, राष्ट्र को अन्तः-बाह्य कोपों व प्राकृतिक उपद्रवों से रहित करे, आदेशों का

उल्लघंन करनेवालों को दण्डित करे। अगले सूक्त में भी इसी बात को विस्तार से कहते हैं—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

उपसद्य, नमस्य

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह॥ १॥

१. राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहता है (आजकल की भाषा में स्पीकर या न्यायाधीश शपथ दिलाता हुआ कहता है)—हे राजन्! **त्वा**=तुझे **राष्ट्रम्**=यह राष्ट्र **आ अगन्**=प्राप्त हुआ है। तू इस राष्ट्र में **वर्चसा सह उद् इहि**=शक्ति के साथ उत्कृष्ट गतिवाला हो। तू शक्तिशाली बनकर शासन करनेवाला बन। तेरी सारी गति अत्यन्त उत्कृष्ट हो। **प्राङ्**=(प्र अञ्च्) अग्रगतिवाला होता हुआ **विशांपतिः**=प्रजाओं का रक्षक तू **एक-राट्**=अद्वितीय शासक अथवा मुख्य शासक (एक=मुख्य, केवल) होता हुआ **त्वम्**=तू **विराज**=विशिष्ट दीप्तिवाला हो। प्रजाओं के जीवन को व्यवस्थित (regulated) करनेवाला हो। २. हे **राजन्**=राष्ट्र के व्यवस्थापक! **सर्वाः प्रदिशः**=सब विस्तृत दिशाएँ—इन दिशाओं में रहनेवाले लोग **त्वा**=तुझे **ह्वयन्तु**=पुकारें, अर्थात् शासनकार्य के लिए तुझे चुनें। तू **इह**=यहाँ शासक पद पर आसीन होकर **उपसद्यः**=सबके लिए अभिगम्य (Approachable) तथा **नमस्यः**=आदरणीय **भव**=हो। तेरे शासनकार्य की उत्तमता के लिए आवश्यक है कि तू प्रजाओं की ठीक स्थिति से परिचित हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि तू प्रजाओं के लिए अभिगम्य हो। तेरे शासन में न्याय-व्यवस्था इतनी ठीक हो कि तू सभी के आदर का पात्र बने।

भावार्थ—राजा प्रजाओं के लिए 'उपसद्य व नमस्य' हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विसु-विभजन

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥ २॥

१. हे राजन्! **त्वाम्**=तुझे **विशः**=प्रजाएँ **राज्याय**=राज्य के लिए **वृणताम्**=वरें। **त्वाम्**=तुझे **इमाः**=ये **पञ्च**=विस्तृत (पचि विस्तारे) **देवीः**=दिव्य गुणयुक्त **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ—इन दिशाओं में निवास करनेवाले व्यक्ति राज्य के लिए चुनें। इनसे चुने गये आप इस देश के शासन को सँभालनेवाले हों। यहाँ 'पञ्च' का भाव चार दिशाएँ और एक मध्य भाग मिलकर 'पाँचों प्रदेश' यह भी लिया जा सकता है। भाव इतना ही है कि राजा का चुनाव सब मिलकर करें। २. इसप्रकार चुनाव हो जाने पर तू **राष्ट्रस्य**=राष्ट्र के **वर्ष्मन् ककुदि**=(वर्ष्मन्=Handsome or lovely) सुन्दर शिखर पर—ऊँचे सिंहासन पर—सर्वोच्च पद पर **श्रयस्व**=आश्रय कर। **ततः**=उस उच्चावस्था से **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ तू **नः**=हमारे लिए **वसूनि विभज**=धनों का उचित विभाग कर। राजा का यह भी एक मौलिक कर्त्तव्य है कि वह धन को कुछ पुरुषों में केन्द्रित न होने दे। धन का उचित विभाग राष्ट्र-शरीर के रक्षण के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि इस शरीर के रक्षण के लिए रुधिर का किसी एक स्थान में केन्द्रित न होने देना।

भावार्थ—सब मिलकर राजा का चुनाव करें। चुने जाने पर राजा इस बात का ध्यान रक्खे कि सम्पत्ति कुछ पुरुषों में ही केन्द्रित न हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कर=Tax

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विन॑: सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑रातै।
जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः॥ ३॥

१. हे राजन्! **सजाताः**=तेरे साथ समान राष्ट्र में पैदा हुए-हुए तथा तेरे समान ही विकासवाले ये व्यक्ति **हविनः**=तुझे पुकारनेवाले (Those who call upon you), तुझे मिलने की इच्छावाले **त्वा अच्छ यन्तु**=तेरे अभिमुख आएँ। इनसे तुझे समय-समय पर उचित परामर्श व प्रजा की स्थिति का ठीक परिचय प्राप्त होता रहे। २. तेरा **अग्निः**=दीप्त ज्ञानाग्निवाला, अग्नि के समान प्रकाशमय **अजिरः**=खूब गतिवाला **दूतः**=दूत **सञ्चरातै**=सम्यक् विचरण के लिए हो। विविध राष्ट्रों में तेरे दूत उत्तम गतिवाले हों। ये दूत अग्नि के समान प्रकाशमय तथा खूब क्रियाशील हों, आलसी न हों। ३. तेरे राष्ट्र में **जायाः**=सन्तानों को जन्म देनेवाली सब माताएँ तथा **पुत्राः**=उनके सन्तान **सुमनसः**=उत्तम मनवाले **भवन्तु**=हों। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले होते हुए ये उत्तम मनवाले हों। ४. **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ तू **बहुं बलिम्**=विपुल कर को **प्रतिपश्यासै**=अपने सम्मुख देखनेवाला हो, अर्थात् तुझे राष्ट्र-रक्षण की व्यवस्था के लिए धन की कमी न रहे। प्रजाएँ तुझे प्रसन्नतापूर्वक कर देनेवाली हों। उचित कर न देनेवाले लोग तेरे द्वारा दण्डित हों। 'उग्रः' शब्द का यह भाव सुव्यक्त है।

भावार्थ—राजा के समकक्ष व्यक्ति समय-समय पर उसे मिल सकें। राजदूत ज्ञानी व क्रियाशील हों। राष्ट्र में सब माताएँ व सन्तान उत्तम मनोंवाली हों। राजा को राष्ट्र-रक्षण के लिए पर्याप्त कर प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

वसुदेय मनवाला राजा

अ॒श्विना॒ त्वाग्रे॑ मित्रावरु॑णो॒भा विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॑स्त्वा ह्वयन्तु।
अधा॒ मनो॑ वसु॒देया॑य कृणुष्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि॥ ४॥

१. हे राजन्! **त्वा**=तुझे **अश्विना**=प्राणापान—प्राण व अपानशक्ति **उभा**=दोनों **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **अग्रे**=सर्वप्रथम **ह्वयन्तु**=पुकारें—राज्य-प्रवेश कराएँ, अर्थात् तेरे इन गुणों को देखकर तुझे राज्यासन पर बिठाएँ। इसीप्रकार **मरुतः**=(मितराविणः) परिमित शब्दोंवाले **विश्वे देवाः**=देववृत्ति के सब पुरुष **त्वा**=तुझे इस राजगद्दी पर पुकारें—वे सब तुझे राज्य करने के लिए आमन्त्रित करें। २. **अध**=अब—सिंहासनासीन होने पर तू **मनः**=अपने मन को **वसुदेयाय**=सब वसुओं को—निवास के लिए आवश्यक साधनों को देने के लिए **कृणुष्व**=कर, अर्थात् तू सब प्रजावर्ग के लिए आवश्यक जीवन-साधनों को प्राप्त करानेवाला हो। **ततः**=इस सिंहासन से—इस सिंहासन पर बैठकर तू **उग्रः**=तेजस्वी और शत्रुभयंकर होता हुआ **नः**=हमारे लिए **वसूनि विभज**=धनों का उचित संविभाग कर—प्रजा में धन का समुचित विभाग करनेवाला राजा ही राष्ट्र-शरीर को स्वस्थ रख पाता है।

भावार्थ—प्राणापान-शक्तिसम्पन्न, स्नेह व निर्द्वेषता से युक्त व्यक्ति को ही देव लोग गद्दी पर बिठाएँ। यह सिंहासनारूढ़ होकर सब प्रजाओं के लिए वसुओं को—आवश्यक जीवन-साधनों को प्राप्त कराने की कामनावाला हो।

ऋषिः —अथर्वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

शिवे द्यावापृथिवी

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि॥ ५॥

१. हे राजन्! तू **परमस्याः परावतः** अत्यन्त सुदूर प्रदेश से भी आ **प्रद्रव**-राष्ट्र की ओर शीघ्रता से आनेवाला हो। कार्यवश राजा को सुदूर प्रदेशों में भी जाना हो तो वह वहाँ विलम्ब न करके शीघ्र अपने राष्ट्र में उपस्थित होने का ध्यान करे। **ते**-तेरे लिए **द्यावापृथिवी उभे**-ये द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों ही **शिवे** कल्याणकर **स्ताम्** हों। राष्ट्र में द्युलोक से वृष्टि ठीक रूप में होकर पृथिवी में पर्याप्त अन्न पैदा करनेवाली हो। वस्तुतः राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था पर ही अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि कष्टों का दूर होना सम्भव होता है। २. **अयम्**-यह राजा सारे ब्रह्माण्ड का शासक **वरुणः**-सब कष्टों का निवारण करनेवाला प्रभु **तत्**-उस बात को **तथा** उस प्रकार **आह** कहता है। प्रभु ने वेद में स्पष्ट कह दिया है कि राजा के अपराध से ही आधिदैविक कष्ट आया करते हैं—'न वर्ष मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति'। **सः अयम्**-वे ये प्रभु ही **त्वा** तुझे **अह्वत्** इस सिंहासन पर पुकारते हैं। राजा को प्रभु का प्रतिनिधि-कार्यकर बनकर उत्तमता से शासन करना चाहिए। **सः** वह तू **इदम्** इस राष्ट्रपति के आसन को **उप ऐहि** समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—राजा कार्यवश कहीं भी जाए, वहाँ से शीघ्र ही राष्ट्र में लौटने का ध्यान करे। उत्तम राष्ट्र व्यवस्था पर ही 'ठीक से वृष्टि होना व पृथिवी का अन्न उत्पन्न करना' निर्भर करता है राजा अपने को प्रभु का कारिन्दा समझे और इसी भावना को लेकर सिंहासन पर बैठे।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

देवयजन-प्रजाकल्पन

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः॥ ६॥

१. **इन्द्र** हे जितेन्द्रिय राजन्! हे **इन्द्र**=हे राष्ट्र के सञ्चालक! **मनुष्याः** मनु की अपत्यभूत इन मानव प्रजाओं को तू **परेहि** सुदूर देश में भी प्राप्त हो। इस राष्ट्र में **वरुणैः** श्रेष्ठ पुरुषों से संज्ञानवाला होता हुआ तू **हि**-निश्चय से **सं अज्ञास्थाः**-सम्यक् ज्ञानवाला हो। राजा प्रजा की स्थिति को ठीक से जाने और अपने कर्त्तव्यों को भी ठीक से जाननेवाला हो। २. **सः अयम्**-वे ये वरुण—सब कष्टों का निवारक प्रभु **त्वा** तुझे स्वे **सधस्थे** अपने सह स्थान में **अह्वत्** पुकारता है, अर्थात् राजा सिंहासन पर बैठते हुए अपने हृदय में स्थित उस प्रभु के साथ भी बैठने का प्रयत्न करता है। प्रभु-स्मरणपूर्वक शासन करनेवाला राजा प्रजा के कष्टों को अवश्य दूर करेगा। **सः** वह **देवान् यक्षत्**-देवों का—विद्वानों का पूजन व आदर करता है **उ**-और **सः**-वह राजा **विशः**-प्रजाओं को **कल्पयात्**-शक्तिशाली बनाता है। राजा अपने राष्ट्र में विद्वानों का आदर करता है और उनकी सम्मतियों से लाभ उठाता हुआ उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के द्वारा प्रजाओं को निर्बल नहीं होने देता। प्रजा के सामर्थ्य का वर्धन ही राजा का उद्देश्य होता है।

भावार्थ—राजा प्रजा के साथ अपना सम्पर्क बनाए रक्खे। प्रभु-स्मरणपूर्वक प्रजाओं का शासन करता हुआ यह राजा राष्ट्र में विद्वानों का आदर करे सब प्रजाओं को सबल बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दशमीं वश

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन्।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह॥ ७॥

१. **पथ्याः**=मार्ग पर चलनेवाली—नियमों को न तोड़नेवाली **रेवतीः**=धन-सम्पन्न, बहुधा **विरूपाः**=कई प्रकार से विभिन्न रूपोंवाली **सर्वाः**=सब प्रजाओं ने **संगत्य**=मिलाकर **ते**=तेरे लिए इस **वरीयः**=उत्कृष्ट—श्रेष्ठ पद को **अक्रन्**=किया है। राष्ट्र की सब प्रजाएँ मिलकर राजा का वरण करती हैं। उन्हें चुनने का अधिकार नहीं होता जो (क) नियमभङ्ग के कारण दण्डित हों अथवा (ख) बिल्कुल न कमाते हों, कुछ भी कर न देते हों। २. **ताः**=ये **सर्वाः**=सब प्रजाएँ **संविदानः**= संज्ञान-(ऐकमत्य)-वाली होती हुई **त्वा**=तुझे इस सिंहासन को सुशोभित करने के लिए **ह्वयन्तु**= पुकारें। **उग्रः**=तेजस्वी—शुत्रभयंकर व **सुमनाः**=सब प्रजाओं के लिए शुभ मनवाला तू **इह**=इस सिंहासन पर **दशमीम् वश**=अपने दसवें दशक की—सौ वर्ष के आयुष्य की कामना कर। राजा स्वयं दीर्घजीवी बने और प्रजाओं को दीर्घजीवी बनाने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—सब प्रजाएँ मिलकर राजा का वरण करें। राजा तेजस्वी व उत्तम मनवाला होता हुआ प्रजा को दीर्घजीवी बनाने के लिए यत्नशील हो।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि अथर्वा है, जो (न थर्वति) डाँवाडोल नहीं होता। विषयों में न भटकने से ही यह शरीर में सोम का रक्षण कर पाता है। इस सूक्त में सोम-रक्षण के महत्त्व का ही प्रतिपादन है। यह सोम पालन व पूरण करनेवाली मणि ही है, अतः इसे 'पर्णमणि' कहा गया है। 'पर्ण' वनस्पति का प्रतीक है। यह सोम वानस्पतिक पदार्थों के भक्षण से जनित मणि है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

पर्णमणि

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन्॥ १॥

१. **अयम्**=यह **पर्णमणिः**=पालक व पूरक तथा वानस्पतिक पदार्थों से उत्पन्न मणि (सोम) **मा**=मुझे **आ अगन्**=प्राप्त हुई है, **बली**=यह प्रशस्त बलोंवाली है। **बलेन**=बल से **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **प्रमृणन्**=मसल देनेवाली है। २. यह **देवानां ओजः**=देवों का ओज है। इस सोम रक्षण से ही देव ओजस्वी बनते हैं। यह **ओषधीनाम्**=ओषधियों का—वानस्पतिक पदार्थों का **पयः**=वीर्य (Semen virile) है। यह **अप्रयावन्**=(मां विहाय अनपगन्ता सन्) मुझे छोड़कर न जाता हुआ—मुझमें ही सुरक्षित होता हुआ **मा**=मुझे **वर्चसा**=तेज से **जिन्वतु**=प्रीणित करे। यह मुझे तेजस्वी बनाए।

भावार्थ—शरीर में वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न सोम शरीर में ही सुरक्षित होता हुआ हमारे रोगरूप शत्रुओं का संहार करता है और हमें वर्चस्वी बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षत्रं+रयिम् (धारयतात्)

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥ २॥

१. हे **पर्णमणे** पालक व पूरक सोम! **मयि**-मुझमें **क्षत्रम्**-क्षतों के त्राण करनेवाले बल का **धारयतात्**-धारण कर। **मयि**=मुझमें **रयिम्**=ऐश्वर्य को (धारयतात्) धारण कर। सोम ही बल व धन का धारण करनेवाला है। २. हे सोम! तेरे द्वारा सबल बना हुआ **अहम्**-मैं **राष्ट्रस्य**-इस राष्ट्र के **अभीवर्गे**-आवर्जन व अपने अनुकूल करने में (स्वाधीनीकरणे) **निजः**-अपने-आप **उत्तमः** उत्कृष्ट **भूयासम्**=होऊँ। इस शरीररूप राष्ट्र को अपने अधीन करके उत्तम जीवनवाला बनूँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम मुझमें बल व ऐश्वर्य का स्थापन करे। सोम रक्षण द्वारा शरीर राष्ट्र को स्वाधीन करता हुआ मैं उत्कृष्ट जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'गुह्य, प्रिय' मणि

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्। तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

१. **यम्** जिस **प्रियम्**-प्रीति की जनक **मणिम्**-वीर्यशक्ति को **देवाः** सूर्य, वायु जल आदि देव **वनस्पतौ**-वनस्पतियों में **गुह्यम्**-अत्यन्त संवृतरूप में **निदधुः**-स्थापित करते हैं, ये सब **देवाः**-देव **तम्** उस मणि को **आयुषा सह**-दीर्घजीवन के साथ **भर्तवे**-भरण के लिए **अस्मभ्यम्**-हमें **ददतु**-दें। २. वानस्पतिक पदार्थों के द्वारा उत्पन्न यह वीर्यशक्ति हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराती है तथा यही हमारा ठीक से भरण करती है। इसके अभाव में ही अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्ति शिथिल हो जाती है।

भावार्थ—सूर्य चन्द्र आदि देवों के द्वारा अत्यन्त संवृतरूप में वनस्पतियों में वीर्यशक्ति की स्थापना होती है। ये वानस्पतिक पदार्थ हमारा भोजन बनकर हममें शक्ति स्थापित करते हैं। इससे दीर्घजीवन व उचित शक्तिभरण प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोम का पर्ण

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥

१. **सोमस्य**-वीर्यशक्ति का **पर्णः**-पालन व पूरण का कर्म **उग्रं सहः**-अत्यन्त प्रबल शत्रुनाशक सामर्थ्य को **आगन्**-प्राप्त कराता है। यह सोम का पर्ण **इन्द्रेण दत्तः** इन्द्रियों के अधिष्ठाता के द्वारा दिया जाता है, अर्थात् जितेन्द्रियता ही हमें इस सोम के पालन व पूरणरूप कर्म को प्राप्त कराती है। **वरुणेन शिष्टः** द्वेष का निवारण करनेवाले देव से यह अनुशिष्ट होता है, अनुज्ञात होता है, अर्थात् निर्द्वेषता होने पर ही यह सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। २. **तम्** उस सोम के **उग्रं सहः**-प्रबल सामर्थ्य को मैं **प्रियासम्**-प्रेम करनेवाला बनूँ। यह सामर्थ्य मुझे प्रिय हो। इसके धारण से मैं **बहु रोचमानः**-अत्यन्त दीप्त बनूँ। **दीर्घायुत्वाय शतशारदाय**-मैं दीर्घजीवन के लिए—पूर्ण सौ वर्ष के जीवन को प्राप्त करने के लिए इस सोम को धारण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—सोम का पालनात्मक कर्म मुझे प्रबल सामर्थ्य प्राप्त कराता है। इसके धारण से मैं दीप्त व दीर्घजीवन प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मह्यै अरिष्टतातये

आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये। यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

१. यह **पर्णमणिः**=पालन व पूरण करनेवाली सोम नामक (वीर्यरूप) मणि **मा आरुक्षत्**=मुझमें आरोहण करे। यह सोम मेरे शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला हो। **मह्यै अरिष्टतातये**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला होकर यह सोम अहिंसन के महान् विस्तार के लिए हो। अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पालन व पूरण करती हुई यह मणि हमें हिंसित न होने दे। २. यह मणि इसप्रकार अहिंसन का विस्तार करे कि **यथा**=जिससे **अहम्**=मैं **अर्यम्णः**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले अर्यमा से **उत**=और **संविदः** सम्यक् ज्ञानवाले पुरुष से **उत्तरः**=अधिक उत्कृष्ट **असानि**=बनूँ। सुरक्षित सोम मुझे रोगों से बचाता व वासनारूप शत्रुओं का विजेता व उत्कृष्ट ज्ञानी बनाता है।

भावार्थ—सोम मेरे शरीर में सुरक्षित हो। यह मुझे अहिंसित बनानेवाला हो। इसके रक्षण से मैं शत्रुओं को वश में करनेवाला व ज्ञानी बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'रथकार धीवान्' तथा 'कर्मार मनीषी'

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान्॥ ६॥

१. हे **पर्ण**=पालन व पूरण करनेवाले मणे! **त्वम्**=तू **मह्यम्**=मेरे लिए **सर्वान् जनान्**=सब मनुष्यों को **अभितः**=सब ओर **उपस्तीन्**=उपासक (सेवक) के रूप में **कृणु**=कर। सोम-रक्षण करता हुआ मैं इन सब लोगों का प्रिय बनूँ, २. **ये**=जो **धीवानः**=प्रशस्त बुद्धिवाले व **रथकाराः**=शरीररूप रथ को सुन्दर बनानेवाले हैं, **ये**=जो **कर्माराः**=खूब क्रियाशील **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले ज्ञानी हैं। ये सबके सब मेरे उपासक हों—मैं इनका प्रिय बनूँ। सोम-रक्षण मुझे उत्तम बुद्धिवाला व सुन्दर शरीर-रथवाला बनाये। इसके रक्षण से मैं क्रियाशील व मनीषी बनूँ, अन्य बुद्धिमानों व मनीषियों में आगे बढ़ जाऊँ।

भावार्थ—सोमरक्षण मुझे उत्तम शरीरवाले व बुद्धिमान् पुरुषों में श्रेष्ठ बनाए। इसके द्वारा मैं क्रियाशील ज्ञानी बन जाऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा, राजकृत, सूत व ग्रामणी (क्षत्रियवर्ग का प्रिय बनूँ)

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्य श्च ये।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान्॥ ७॥

१. हे **पर्ण**=पालन व पूरण करनेवाली मणे! **त्वम्**=तू **मह्यम्**=मेरे लिए **सर्वान्**=सब **जनान्**=लोगों को **अभितः**=सब ओर से **उपस्तीन्**=उपासक **कृणु**=कर। सोमरक्षण करता हुआ मैं इन सबका प्रिय बनूँ। २. **ये**=जो **राजानः**=राजा हैं व **राजकृतः**=राजाओं को बनानेवाले हैं **च**=और **ये**=जो **सूताः**=प्रेरणा देनेवाले हैं **ग्रामण्यः**=ग्राम-प्रमुख हैं, सोमरक्षण करता हुआ मैं इन सबका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा मैं सब क्षत्रियवर्ग का भी प्रिय बनूँ। सोमरक्षण मुझे भी उत्तम राजा, राजकृत, सूत व ग्रामीण बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**विराडुरोबृहती** ॥

तनूपान पर्ण

पर्णो ऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे॥ ८॥

१. हे सोम! **पर्णः असि** तू हमारा पालन व पूरण करनेवाला है, **तनूपानः**-शरीर का रक्षण करनेवाला है। **वीरः**-(वि ईर्) रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला है। **वीरेण मया** मुझ वीर के साथ **सयोनिः**-समान गृहवाला है। इस शरीर में मैं भी रहता हूँ, तू भी। २. हे **मणे**-सोमशक्ते! **तेन** उस **सवंत्सरस्य**-उत्तम निवास के साधनभूत **तेजसा**-तेज के हेतु से **त्वा बाध्नामि**-तुझे अपने अन्दर बाँधता हूँ। तेरे रक्षण से शरीर में वह तेज प्राप्त होता है जो उत्तम निवास का साधन बनता है।

भावार्थ—सोम शरीर का रक्षण करता है। यह शरीर में बद्ध होकर दीर्घ जीवन का कारण बनता है।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'जगद्बीजं पुरुषः' कहलाता है। सूक्त का विषय भी 'वानस्पत्यः अश्वत्थः' है वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से अत्यन्त सात्त्विक बुद्धिवाले पुरुषों के हृदयों में निवास करनेवाला 'अश्वत्थ' है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुमान् पुंसः, अश्वत्थः खदिरात्

पुमा॑न्पुं॒सः परि॑जातोऽश्व॒त्थः ख॑दि॒रादधि॑।
स ह॑न्तु॒ शत्रू॒न्माम॒कान्याना॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम्॥ १॥

१. प्रभु **पुमान्**-पुमान् हैं, पुनाति सबको पवित्र करनेवाले हैं। **पुंसः** अपने जीवन को पवित्र करनेवाले पुरुष से **परिजातः**-प्रादुर्भूत होते हैं। अपने हृदय को पवित्र करनेवाला पुरुष ही प्रभु के प्रकाश को देखता है। २. प्रभु 'अश्वत्थ' हैं—कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष के हृदय में स्थित होते हैं। ये प्रभु **खदिरात्**=स्थिर वृत्तिवाले—वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष से **अधि (जातः)** अपने अन्दर प्रादुर्भूत किये जाते हैं(खद स्थैर्ये हिंसायां च)। ३. **सः** वे प्रभु ही **मामकान् शत्रून्** मेरे शत्रुओं को **हन्तु** नष्ट करें। उन शत्रुओं को **यान्** जिन्हें **अहम्**-मैं **द्वेष्मि** अप्रीतिकर समझता हूँ **च**=और **ये** जो **माम्**-मुझे द्वेष से देखते हैं। काम क्रोध, लोभ आदि शत्रु मुझ प्रिय नहीं और मैं उनका प्रिय नहीं हूँ। प्रभु मेरे इन शत्रुओं को मुझसे पृथक् करें।

भावार्थ—पवित्र बनकर मैं पवित्र प्रभु के प्रकाश को देखूँ। स्थिर वृत्तिवाला बनकर मैं कर्मशीलों में व्याप्त उस प्रभु को पहचानूँ। प्रभु मेरे काम आदि शत्रुओं को विनष्ट करें।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र, मित्र, वरुण' से स्नेहवाला

तान॑श्वत्थ॒ निः शृ॑णीहि॒ शत्रू॑न्वैबाध॒दोध॑तः।
इन्द्रे॑ण वृ॒त्र॒घ्ना मे॒दी मि॒त्रेण॒ वरु॑णेन च॥ २॥

१. हे **अश्वत्थ**-कर्मशील पुरुषों में व्याप्त होनेवाले प्रभो! आप **वैबाधदोधतः** विशिष्ट बाधा उत्पन्न करनेवाले तथा कम्पित करनेवाले **तान्**-उन **शत्रून्**-शत्रुओं को **निःशृणीहि**-पूर्णरूप से हिंसित कर दीजिए। ये शत्रु हमें हिंसित करनेवाले न हों। २. इन शत्रुओं से हिंसित न होकर मैं **वृत्रघ्नः** वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **इन्द्रेण**-परमैश्वर्यशाली प्रभु से, **मित्रेण**-रोगों व मृत्यु से (पाप से) बचानेवाले प्रभु से **च** और **वरुणेन** द्वेषनिवारक प्रभु से **मेदी**=स्नेहवाला होऊँ। प्रभु से स्नेहवाला बनने का अभिप्राय यही है कि मैं भी 'इन्द्र, मित्र और वरुण' बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मेरे पीड़ाजनक शत्रुओं को विनष्ट करें। मैं 'इन्द्र, मित्र, वरुण' नामक प्रभु

से स्नेहवाला होता हुआ जितेन्द्रिय, सबके प्रति स्नेहवाला व निर्द्वेष बनूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान-सूर्योदय

यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ ३॥

१. हे **अश्वत्थ**-कर्मशील पुरुषो में स्थित होनेवाले प्रभो! **यथा**-जिस प्रकार **महति अर्णवे अन्तः**=इस महान् अन्तरिक्ष समुद्र में आप **निरभनः**=(भञ्चो आमर्दने) सूर्य के आवरणभूत मेघों का विदारण करते हैं, **एव**=उसी प्रकार **तान् सर्वान्**=उन सबको भी **निर्भङ्ग्धि**-विनष्ट कर दीजिए, **यान्**-जिन्हें कि **अहम्**-मैं **द्वेष्मि** अप्रीतिकर समझता हूँ **च**-और **ये**-जो **माम्**-मुझे द्वेष से देखते हैं। २. जैसे प्रभु इस महान् अन्तरिक्ष में मेघों का विदारण करते हैं, इसीप्रकार मेरे हृदयान्तरिक्ष में वे वासनारूप मेघों का विदारण करें।

भावार्थ—प्रभु वासनाओं का विदारण करके मेरे जीवन में ज्ञानसूर्य को उदित करें।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सपत्न-पराभव

यः सहमानश्चरसि सासहानइव ऋषभः। तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि॥ ४॥

१. हे परमात्मन्! **यः**-जो आप **सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करते हुए **चरसि**=गति करते हैं, वे आप **सासहानः**-विरोधियों का खूब ही पराभव करते हुए **ऋषभः इव**=ऋषभ के समान हैं। जैसे एक शक्तिशाली ऋषभ मार्ग में आये हुए विघ्नों को परे हटाता हुआ आगे बढ़ता है। उसी प्रकार प्रभु उपासक के विरोधियों को विनष्ट करते हुए उसे आगे बढ़ाते हैं। २. हे **अश्वत्थ**-कर्मशील पुरुषों में स्थित होनेवाले प्रभो! **तेन त्वया**-उस आपके द्वारा—आपको साथी बनाकर **वयम्**-हम **सपत्नान्**-रोग व वासनारूप शत्रुओं को **सहिषीमहि**=पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु को साथी बनाकर हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का निर्ऋति पाशों में बन्धन

सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः। अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ ५॥

१. हे **अश्वत्थ** कर्मशीलों में स्थित होनेवाले प्रभो! **एनान्** इन **मामकान् शत्रून्**-मेरे शत्रुओं को **यान्**-जिन्हें **अहम्**=मैं **द्वेष्मि**-अप्रिय समझता हूँ, **च**=और **ये**-जो **माम्**-मुझे अप्रिय मानते हैं, **निर्ऋतिः**=अलक्ष्मी व पाप-देवता **मृत्योः**=मृत्यु के **अमोक्यैः पाशैः**=न छुड़ाये जा सकने योग्य बन्धनों से **सिनातु**=बाँध ले। २. मेरे शत्रु पाप-देवता द्वारा मृत्यु के पाशों में बद्ध होकर मेरा शासन करने में असमर्थ हो जाएँ।

भावार्थ—मेरे शत्रु पाप-देवता द्वारा मृत्यु के पाशों में बाँधे जाएँ। मैं उनका शिकार न बनूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-प्राप्ति व विनीतता

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान्।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च॥ ६॥

१. हे **अश्वत्थ**-कर्मशील पुरुषों में स्थित होनेवाले प्रभो! **यथा**-जैसे आप **वानस्पत्यान्**-

वनस्पति के सेवन से सात्त्विक बुद्धिवाले पुरुषों को **अरोहन्** प्राप्त होते हुए (to reach) उन्हें **अधरान्**-विनीत **कृणुषे**-करते हैं—बनाते हैं, **एवं**-इसीप्रकार **मे**-मेरे भी **शत्रोः**-अभिमान आदि शत्रुओं के **मूर्धानम्**-मस्तक को **विष्वग् भिन्धि** सब ओर से विदीर्ण कीजिए **च**-और **सहस्व** उन शत्रुओं को पराभूत कीजिए। २. जिसे भी प्रभु प्राप्त होते हैं, वह अभिमानशून्य और विनीत बनता है। मैं भी प्रभु के अनुग्रह से निरभिमान बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे प्राप्त हों। प्रभु-प्राप्ति के अनुपात में मैं विनीत बनता चलूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का सदा के लिए संहार

ते ऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्॥ ७॥

१. **बन्धनात्**-बन्धन-रज्जु से **छिन्ना नौः इव**-छिन्न हुई-हुई नौका के समान **ते** वे मेरे शत्रु **अधराञ्चः** नीचे की ओर गति करनेवाले होते हुए **प्र प्लवन्ताम्**-बहते जाएँ। मेरे शत्रु समुद्र में डूब मरें। प्रभु उपासन से मेरा शत्रुओं के द्वारा किया बन्धन छिन्न होता जाए—ये शत्रु मुझसे दूर होते जाएँ। २. **वैबाधप्रमुत्तानाम्**-विशेषरूप से पीड़ित करनेवाले इन्द्र से परे धकेले हुए इन राक्षसी भावों का **पुनः** फिर **निवर्तनम्**-मेरे समीप लौटकर आना **न अस्ति** नहीं होता।

भावार्थ—मैं प्रभु का उपासक बनूँ। वे मेरे शत्रुओं को छिन्न कर देंगे।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनसा चित्तेन ब्रह्मणा वृक्षस्य शाखया

प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा। प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे॥ ८॥

१. **एनान्**-इन शत्रुओं को मैं **मनसा**-मनन के द्वारा—मन से **प्रणुदे**-परे धकेल देता हूँ। जितना जितना मन में दृढ़ निश्चय करेंगे, उतना उतना ही इन शत्रुओं का संहार कर सकेंगे (Determination-determinus संकल्प, सम्यक् सामर्थ्य)। **चित्तेन** संज्ञान के द्वारा—'मैं कौन हूँ' इस बात को न भूलने के द्वारा **प्र**-मैं कामादि शत्रुओं को परे धकेलता हूँ। 'मैं आत्मा हूँ', परमात्मा का सखा हूँ। यह स्मरण मुझे वासनाओं में फँसने से बचाता है। **उत**-और **ब्रह्मणा**-किसी महान् लक्ष्य के द्वारा (ब्रह्म great) व वेदज्ञान के द्वारा—वेदाध्ययन में प्रवृत्ति के द्वारा इन शत्रुओं को दूर करता हूँ। ऊँचा लक्ष्य होने पर मनुष्य इनका शिकार नहीं होता। २. हम **एनान्** इन शत्रुओं को **अश्वत्थस्य**-कर्मशील मनुष्यों में स्थित होनेवाले **वृक्षस्य**-(वृश्चति) बन्धनों का छेदन करनेवाले प्रभु के **शाखया**-(खे शेते) हृदयाकाश में निवास के द्वारा—प्रभु को हृदयासन पर बिठाकर **प्रनुदामहे**-खूब दूर धकेलते हैं। प्रभु के हृदय में स्थित होने पर वहाँ काम आदि का होना सम्भव नहीं है।

भावार्थ—दृढ़ निश्चय, संज्ञान, महान् लक्ष्य व हृदय में प्रभु-स्थिति के द्वारा हम शत्रुओं को परे धकेल दें।

विशेष—अगले सूक्त में 'क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा' का उल्लेख है। समुचित औषध प्रयोग द्वारा रोगों को भून डालनेवाला 'भृगु' सूक्त का ऋषि है। रोग-विनाश द्वारा अङ्गों में रस का सञ्चार करता हुआ यह 'अङ्गिराः' है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**हरिणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृगशृङ्ग से क्षेत्रिय रोग-निराकरण

हुरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्॥ १॥

१. **रघुष्यदः**=तीव्र गतिवाले **हरिणस्य**=हरिण के **शीर्षणि अधि**=सिर पर **भेषजम्**=रोग निवारक शृङ्गरूप औषध है। २. **सः**=वह हरिण **विषाणया**=अपने शृङ्ग से **क्षेत्रियम्**=पर क्षेत्र में चिकित्स्य माता-पिता से आये हुए क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को **विषूचीनम्**=सब ओर से **अनीनशत्**=नष्ट कर दे। 'वैद्यक शब्दसिन्धु' में लिखा है—'**मृगशृङ्गं भस्म हृद्रोगे वृक्कशूलादौ प्रशस्तम्**', अर्थात् मृगशृङ्ग की भस्म हृद्रोग व वृक्कशूल आदि में उपयोगी है।

भावार्थ—तीव्र गतिवाले मृग के सींग की ओषधि से क्षेत्रिय रोगों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**हरिणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हृद्रोग का अन्त

अनु त्वा हरिणो वृषा पुद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्॥
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि॥ २॥

१. हे **विषाणे**=मृगशृङ्ग! **त्वा अनु**=तेरे पीछे **वृषा हरिणः**=शक्तिशाली युवा हरिण **चतुर्भिः पद्भिः**=अपने चारों पाँवों से **अक्रमीत्**=इस क्षेत्रिय रोग पर आक्रमण करता है। मानो यह हरिण चारों पाँवों से उसे रौंद डालता है। २. हे शृङ्ग! तू **अस्य**=इस रोगी के **हृदि**=हृदय में **यत्**=जो **गुष्पितम्**=गुप्तरूप से ग्रथित सा हुआ-हुआ **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग है, उसे **विष्य**=समाप्त कर दे।

भावार्थ—मृगशृङ्ग हृद्रोग को दूर करता है, मानो हरिण उसे चारों पैरों से रौंद-सा डालता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**हरिणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चतुष्पक्ष छदि के समान

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि॥ ३॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **चतुष्पक्षम् छदिः इव**=चारपक्षोंवाली छत के समान यह सींग **अवरोचते**=चमकता है, **तेन**=तेरे **सर्वं क्षेत्रियम्**=सब क्षेत्रिय रोगों को **अङ्गेभ्यः**=सब अङ्गों से **आनाशयामसि**=सर्वथा नष्ट करते हैं। २. बारहसिंगा के सिर पर सींग चतुष्पक्ष छदि के समान प्रतीत होते हैं। इन सींगों के औषध-प्रयोग द्वारा सब क्षेत्रियरोग नष्ट किये जा सकते हैं।

भावार्थ—बारहसिंगे का सींग सब अङ्गों से क्षेत्रियरोगों को दूर करने के लिए उपयुक्त होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विचृतौ तारके** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विचृतौ नाम तारके

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ ४॥

१. **अमू**=वे **ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में **सुभगे**=उत्तम श्री को प्राप्त करानेवाले **विचृतौ नाम**=रोगों का छेदन करनेवाले (to kill), दीप्त करनेवाले (to light) व दीप्त होनेवाले 'विचृतौ'

नामवाले **तारके** सूर्य चन्द्ररूप तारे हैं, वे **क्षेत्रियस्य**-क्षेत्रिय रोग के **अधमम्**-निचले शरीर भाग में होनेवाले व **उत्तमम्**-ऊर्ध्व भाग में होनेवाले **पाशम्**-पाश को **विमुञ्चताम्** छुड़ाएँ। २. सूर्य और चन्द्र की किरणों को शरीर पर ठीक रूप से लेने से क्षेत्रिय रोग नष्ट हो जाते हैं, अतः जहाँ तक सम्भव हो खुले में रहना ही ठीक है।

भावार्थ—सूर्य व चन्द्र के सम्पर्क में जीवन बिताने से क्षेत्रिय रोगों का दूर होना सम्भव है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आपः

आप॒ इद्वा उ॑ भेष॒जीरापो॑ अमीव॒चात॑नीः।

आपो॒ विश्व॑स्य भेष॒जीस्तास्त्वा॑ मुञ्चन्तु क्षेत्रि॒यात्॥ ५॥

१. **आपः** जल **इत् वा उ**-निश्चय से **भेषजीः** औषध हैं। **आपः**-ये जल **अमीवचतनीः**-रोगों के नाशक हैं। **आपः** जल **विश्वस्य भेषजीः**-सब रोगों के औषध हैं। **ताः** वे जल **त्वा** तुझे **क्षेत्रियात्**=क्षेत्रिय रोगों से **मुञ्चन्तु**-छुड़ाएँ।

भावार्थ—जल सर्वौषधमय हैं। इनके ठीक प्रयोग से सब रोग दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

विक्रियमाण आसुति से क्षेत्रिय रोग

यदा॑सुतेः क्रि॒यमा॑णायाः क्षेत्रि॒यं त्वा॑ व्यानु॒शे।

वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं क्षेत्रि॒यं नाश॑यामि॒ त्वत्॥ ६॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि **क्रियामाणायाः**-(विक्रियमाणायाः) कुछ विकृत-से हो जानेवाले **आसुतेः**-अन्न रस से **यत्** जो **क्षेत्रियम्**-क्षेत्रिय रोग **त्वा व्यानशे** तुझे व्याप्त हो गया है, **अहम्** मैं **तस्य**-उसके **भेषजम्**-औषध को **वेद** जानता हूँ और अभी उस **क्षेत्रियम्**-क्षेत्रिय रोग को **त्वत् नाशयामि**-तेरे शरीर से पृथक् कर देता हूँ—इस रोग को अभी दूर किये देता हूँ। २. अन्न-रसों के विकार से ही क्षेत्रिय रोग उत्पन्न होते हैं। उनके उत्पन्न हो जाने पर वैद्य रोगी को आश्वासन देते हुए कहता है कि तू घबरा नहीं, मैं तेरे रोग को अभी दूर किये देता हूँ।

भावार्थ—विकृत अन्न रस क्षेत्रिय रोगों को उत्पन्न कर देता है। समझदार वैद्य रोगी को आश्वासन देता हुआ समुचित औषध-प्रयोग से उसे स्वस्थ कर लेता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रातः स्नानादि से रोग-नाश

अ॒प॒वा॒से नक्ष॑त्राणामपवा॒स उ॒षसा॑मु॒त। अपा॒स्मत्सर्वं॑ दुर्भू॒तमप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु॒॥ ७॥

१. **नक्षत्राणाम् अपवासे**-नक्षत्रों के अपगमनकाल में, अर्थात् उषा के आरम्भ में **उत** अथवा **उषसाम्**-प्रतिदिन उषाओं के **अपवासे** अपगमन के समय, अर्थात् प्रातःकाल, उस समय किये जानेवाले स्नानादि के द्वारा **सर्वम्**-सारा **दुर्भूतम्**-रोग का निदानभूत दुष्कृत **अस्मत्**-हमसे **अप उच्छतु**-दूर हो जाए और प्रतिदिन इसप्रकार करने से **क्षेत्रियम्**-कुष्ठ, अपस्मार आदि क्षेत्रिय रोग भी **अप**-हमसे दूर हो जाए।

भावार्थ—हम तारों के अस्त होते ही बहुत सवेरे सवेरे स्नान आदि क्रियाओं को सम्पन्न करने के द्वारा 'दुर्भूत' को दूर करते हुए 'क्षेत्रिय' रोगों को भी दूर करने में समर्थ हों।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि अथर्वा है—न डाँवाडोल होनेवाला (न थर्वति) अथवा

'अथ अर्वाङ्' अपने अन्दर देखनेवाला और परिणामतः औरों के दोषों को न देखकर अपने दोषों को दूर करनेवाला। यह प्रार्थना करता है कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मित्र, वरुण, वायु, अग्नि की अनुकूलता

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्त्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु॥ १॥

१. **मित्रः**=रोगों से रक्षा करनेवाला यह सूर्य **आयातु**=हमें प्राप्त हो। **ऋतुभिः**=वसन्त आदि ऋतुओं के क्रमशः आने से **कल्पमानः**=हमारी आयु को दीर्घ करने में समर्थ होता हुआ तथा **उस्त्रियाभिः**=अपनी किरणों से **पृथिवीम्**=इस विस्तीर्ण भूमि को **संवेशयन्**=व्याप्त करता हुआ यह सूर्य आये। २. **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वरुणः**=जलों का अधिष्ठातृदेव वरुण, **वायुः**=अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु और **अग्निः**=पृथिवीस्थ देवों का अग्रणी यह अग्नि **संवेश्यम्**=सम्यक् अवस्थान के योग्य **बृहत्**=विशाल **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **दधातु**=धारण करे। सब देवों की अनुकूलता से यह राष्ट्र आधिदैविक आपत्तियों से शून्य हो।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में सूर्य की किरणें पृथिवी को व्याप्त करती हुई सब ऋतुओं को ठीक से लानेवाली हों। यहाँ वरुण, वायु व अग्निदेवों की अनुकूलता हो और हमारा राष्ट्र आधिदैविक आपत्तियों से शून्य हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'धाता, राति, सविता, इन्द्र, त्वष्टा' तथा 'शूरपुत्रा अदिति'

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि॥ २॥

१. **धाता**=धारण करनेवाला, **रातिः**=दानशील, **सविता**=निर्माण करनेवाला **मे इदं वचः**=मेरे इस वचन को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला, **त्वष्टा**=क्रियाशील, सदा कार्यों में लगे रहनेवाला—ये सब देव मेरे वचन को **प्रतिहर्यन्तु** चाहें। मेरे वचन उन्हें प्रिय हों। २. **देवीम्**=दिव्य गुणोंवाली **शूरपुत्राम्**=शूरों को जन्म देनेवाली **अदितिम्** अदीना देवमाता को **हुवे**=पुकारता हूँ। ये सब ऐसा प्रयत्न करें कि **यथा**=जिससे मैं **सजातानाम्**=समानजातिवाले लोगों में **मध्यमेष्ठाः**=मध्यस्थ **असानि**=होऊँ। ये सजात मुझे अपना मध्यस्थ जानें। इनमें श्रेष्ठ बनकर मैं इनके विवादों में मध्यस्थ बन पाऊँ। ३. यदि किसी राष्ट्र में लोग 'धाता, राति, सविता, इन्द्र व त्वष्टा' हों और राष्ट्र की माताएँ 'शूरपुत्रा व आदिति' हों तो राष्ट्र की इस उत्तम स्थिति के कारण राष्ट्रपति का सजात लोगों में आदर स्वाभाविक है। राजा चाहता है कि सब प्रजावर्ग धाता आदि के रूप में होता हुआ राष्ट्रपति के इस वचन का आदर करे कि '**मैं सजातों में श्रेष्ठ बन पाऊँ।**'

भावार्थ—राजा चाहता है कि उसकी प्रजा के लोग 'धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त, दानशील, निर्माण में लगे हुए, काम-क्रोध आदि के शिकार न होते हुए सदा क्रियाशील हों। राष्ट्र की माताएँ देववृत्तिवाली व शूर सन्तानों को जन्म देनेवाली हों, जिससे राष्ट्र की ऐसी उत्तम स्थिति हो कि इस राष्ट्र का राष्ट्रपति सजात लोगों में श्रेष्ठ गिना जाए।'

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता –**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'उत्तरत्व' प्राप्ति के साधन

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः॥ ३॥

१. राजा कहता है कि **अहम्**-मैं **उत्तरत्वे**-श्रेष्ठता के निमित्त **सवितारम्**-संसार के उत्पादक व सबके प्रेरक **सोमम्**-शान्त प्रभु को **नमोभिः**-नमस्कारों के द्वारा **हुवे**-पुकारता हूँ तथा **विश्वान्**-सब **आदित्यान्**-आदित्यों को—अच्छाइयों का आदान करनेवालों को पुकारता हूँ। 'सोम, सविता व आदित्यों का आराधन करता हुआ मैं भी शान्त, निर्माण के कार्यों में लगा हुआ व अच्छाइयों का आदान करनेवाला बनूँ। यही तो श्रेष्ठता की प्राप्ति का मार्ग है। २. **अयम् अग्निः**=यह अग्नि **दीर्घम् एव**-दीर्घकाल तक ही **दीदायत्**=दीप्त हो। राष्ट्र में प्रत्येक घर में अग्निहोत्र हो, कोई भी व्यक्ति अनाहिताग्नि न हो। मैं भी **अप्रतिब्रुवद्भिः**-कभी विरोध में न बोलते हुए **सजातैः**-सजात लोगों से **इद्धः** दीप्त किया जाऊँ, सब सजात लोगों को अपने साथ पाकर चमक उठूँ।

भावार्थ—राजा चाहता है कि प्रभु को 'सोम, सविता व आदित्य' के रूप में स्मरण करता हुआ मैं 'शान्त, निर्माता व अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाला' बनूँ। राष्ट्र में प्रत्येक घर में अग्निहोत्र की अग्नि चमके। उसी प्रकार अप्रतिकूलतावाले सजात लोगों में मैं भी चमकूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहतीगर्भाचतुष्पदात्रिष्टुप्** ॥

उत्तम घर

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत्।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु॥ ४॥

१. राजा राष्ट्र में सब गृहपत्नियों को प्रेरणा देता है कि तुम **इह इत् असाथ** यहाँ घर पर ही रहो, **न परः गमाथ**-घर से दूर न जाओ। यहाँ घरों में **इर्यः**-उत्तम अन्नोंवाला (इरा-अन्नम्), **गोपाः** गौओं का पालन करनेवाला, **पुष्टपतिः**-पोषण का स्वामी **वः**-तुम्हें **आजत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् तुम्हारे पति 'इर्य, गोपा व पुष्टपति' हों। तुम ऐसे घर में ही बनी रहो, घर को छोड़कर जाने का कभी स्वप्न भी न लो। २. तुम **अस्मै कामाय**-इस तुम्हारी कामनावाले (कामयमानाय) पति के **उप**=समीप ही **कामिनीः**-पति की कामनावाली होओ। यहाँ घर में सदाचरण से जीवन यापन करती हुई **वः**-तुम्हें **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण **उपसंयन्तु**=प्राप्त हों और देववृत्ति के पुरुष ही तुम्हें अतिथिरूपेण प्राप्त हों।

भावार्थ—राजा चाहता है कि राष्ट्र में पत्नियाँ घरों को छोड़कर जाने का स्वप्न भी न लें। प्रियपति के प्रति प्रेमवाली हों। पति घर में अन्न की कमी न होने दें, गौओं को अवश्य रक्खें, घर में सभी के पोषण का ध्यान करें। घरों में देवृत्ति के पुरुष ही अतिथिरूपेण प्राप्त हों। सब घरों की उत्तमता पर ही राष्ट्र की उत्तमता निर्भर होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अविमनस्कता

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि। अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥ ५॥

१. **वः**-तुम्हारे **मनांसि**-मनों को **सम् नमामसि**-एक विषय की ओर झुकाववाला व अविसंवादि करते हैं। **व्रता**-तुम्हारे व्रतों को भी **सम्**-अविरोधी करते हैं। इसीप्रकार **आकूतीः**-तुम्हारे

संकल्पों को भी **सम्**=सन्नत करते हैं। २. **अमी**=वे **ये**=जो आप किन्हीं कारणों से **विव्रता स्थन**=विरुद्ध कर्मा हो गये, **तान् वः**=उन आपको **संनमयामसि** राष्ट्र की उन्नतिरूप एक कार्य में लगे हुए व विरोधशून्य करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के सब लोग अविरुद्धभाववाले होकर समान संकल्पवाले होते हुए राष्ट्रोन्नति में लगे रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

राजा व प्रजा की अनुकूलता

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥ ६ ॥

१. राजा प्रजाओं से कहता है कि **अहम्**=मैं **मनसा**=अपने मन के द्वारा **मनांसि**=तुम्हारे मनों को **गृभ्णामि**=ग्रहण करता हूँ—अपने वश में करता हूँ। तुम सब **मम**=मेरे **चित्तम् अनु**=चित्त के अनुकूल **चित्तेभिः**=चित्तों से **एत**=गतिवाले होओ। २. **मम वशेषु**=मुझसे चाहे गये अर्थों में **वः**=तुम्हारे **हृदयानि**=हृदयों को **कृणोमि**=करता हूँ। **मम**=मेरे **यातम् अनु वर्त्मानः**=गमन के अनुकूल मार्गवाले **एत**=तुम गति करो—मेरे मार्ग के पीछे चलनेवाले होओ।

भावार्थ—राजा को प्रजा की पूर्ण अनुकूलता प्राप्त हो तभी राष्ट्र विजयी व उन्नत होता है।

विशेष—इस उत्तम राष्ट्र में ही 'वामदेव'-सुन्दर दिव्य गुणोंवाले पुरुष का जन्म होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विघ्नाभाव

कर्शफस्य विशफस्य द्यौष्पिता पृथिवी माता। यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥

१. **कर्शफस्य**=(कृशशफस्य श्वापदस्य व्याघ्रादेः) पतले शफों-(Hoof)-वाले व्याघ्रादि पशुओं का तथा **विशफस्य**=(विस्पष्टशफस्य क्रूरगोमहिष्यादेः) स्पष्ट शफोंवाले क्रूर जंगली भैंसे आदि का भी **द्यौः**=द्युलोक **पिता**=पिता है तथा **पृथिवी**=पृथिवी **माता**=माता है। द्युलोक व पृथिवीलोक ही सब प्राणियों को जन्म देते हैं। पृथिवी व द्युलोक के अन्तर्गत सब देवों (प्राकृतिक शक्तियों) ने ही इन्हें भी जन्म दिया है। २. हे **देवाः**=देवो! **यथा**=जैसे आपने **अभिचक्र**=इन कर्शफ, विशफ आदि को हमारे सामने प्राप्त कराया है। (अस्मदभिमुखान् कृतवन्तः) **तथा**=उसी प्रकार इन्हें **पुनः**=फिर से हमसे **अपकृणुत**=दूर करो।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे भी माता-पिता हैं। इन्होंने ही व्याघ्र आदि व क्रूर भैंसे आदि को जन्म दिया है। वे इन क्रूर पशुओं को हमसे दूर रक्खें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'ईर्ष्या व अविचारशीलता' से दूर

अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम्।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव॥ २ ॥

१. **अश्रेष्माणः**=(श्रिष् श्रेषति to burn) ईर्ष्या की अग्नि में न जलनेवाले पुरुष ही **अधारयन्**=इस जगत् का धारण करते हैं। ईर्ष्या की अग्नि में जलनेवाला पुरुष अपनी सारी शक्ति

को अपने उत्थान में लगाने की बजाए दूसरों के विनाश में लगता है **तथा** उसी प्रकार **तत्**=इस जगत् का धारण **मनुना कृतम्**-विचारशील पुरुष के द्वारा किया गया है। ईर्ष्याशून्य व विचारशील व्यक्ति ही जगत् का धारण करते हैं। २. ईर्ष्याशून्य व विचारशील बनकर उन्नतिपथ पर चलता हुआ मैं **किष्कन्धम्** मार्ग में आनेवाले विघ्नों को इसप्रकार **बध्रि कृणोमि**-बधिया (निर्बल) कर देता हूँ, **इव** जैसेकि **गवाम्**-बैलों के **मुष्काबर्हः**-अण्डकोशों को तोड़नेवाला उन पुं-गवों को निर्बल कर देता है—निर्वीर्य कर देता है।

भावार्थ—ईर्ष्या और अविचारशीलता ही हमें आगे नहीं बढ़ने देतीं। इनसे दूर होकर मैं उन्नति-पथ में आनेवाले विघ्नों को निर्वीर्य कर देता हूँ।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'श्रवस्यु-शुष्म-काबव' का वध्रीकरण

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः॥ ३॥

१. प्रभु इस ब्राह्मण्ड के एक एक रूप में (पिश form में) प्रविष्ट हो रहे हैं **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**। प्रत्येक पदार्थ उस प्रभुरूप महान् सूत्र में ओत-प्रोत है **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'**। उस **पिशङ्गे सूत्रे** प्रत्येक पदार्थ में सूत्ररूप में गये हुए उस महान् सूत्र (सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्०) में **खृगलम्** (तनुत्राणम्) कवच हैं—प्रभु एक महान् कवच हैं (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्)। **वेधसः**-ज्ञानी पुरुष **तत्** उस महान् कवच को **आबध्नन्ति**-बाँधते हैं। इस कवच से सुरक्षित होने के कारण ही ये काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के शरों से विद्ध नहीं होते। २. इस कवच को **बन्धुरः**-बाँधनेवाले व्यक्ति **श्रवस्युम्**-यश को अपने साथ जोड़ने की कामना को—लोकैषणा को, **शुष्मम्**-धन की कामना को, जोकि दूसरों के धन के प्रति ईर्ष्या के कारण हमारा शोषण-सा कर देती है, उस वित्तैषणा को, **काबवम्**-(कवति to colour) जीवन को अनुरञ्जित करनेवाली—अनुरागयुक्त करनेवाली पुत्रैषणा को **वध्रिम्**-बन्धनयुक्त (नियन्त्रित) व निर्बल **कृण्वन्तु**-कर दें। वस्तुतः प्रभु को कवचरूप में धारण करनेवाले इन ऐषणाओं से नियन्त्रित नहीं होते। प्रभु-प्राप्ति की तुलना में इन एषणाओं का आकर्षण समाप्त ही हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा को दूर करें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**चतुष्पान्निचृद्बृहती** ॥

असुरमाया व कामदूषण

येना श्रवस्यवश्चरथ देवाइवासुरमायया।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च॥ ४॥

१. हे **श्रवस्यवः**-ज्ञान की कामनावाले उपासको! **येन** चूँकि तुम **असुरमायया**-प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले प्रभु की प्रज्ञा (माया-प्रज्ञा—नि० ३.९) से **चरथ**-व्यवहार करते हो—संसार में गति करते हो, अतः **देवाः इव**-देवतुल्य बन जाते हो। २. **च**-और यह **असुरमाया**=प्रभु-प्रज्ञा तुम्हारे जीवनों में **शुनाम्**=कुत्तों को **दूषणः**-दूषित करनेवाले **कपिः इव**-वानर की भाँति **काबवस्य**-जीवन को अनुरागयुक्त करनेवाली (कवति to colour) कामवासना को **बन्धुरा**=बाँधनेवाली—नियन्त्रित करनेवाली है। असुरमाया कामवासना को उसी प्रकार दूषित कर देती है, जैसेकि वानर श्वा को।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रज्ञान को प्राप्त करके अनुराग (काम) की वासना से ऊपर उठें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शपथेभिः उत्

दुष्ट्यै हि त्वा भन्त्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम्।
उदाशवो रथाइव शपथेभिः सरिष्यथ॥ ५॥

१. हे प्रभो! **दुष्ट्यै**-वासनाओं को दूषित करने के लिए **हि**-निश्चय से **त्वा**=आपको **भन्त्स्यामि**-अपने में बाँधूँगा -आपको हृदय में स्थिर करने का प्रयत्न करूँगा। इसप्रकार **काबवम्**=संसार के प्रति अनुराग की वृत्ति को **दूषयिष्यामि**-दूषित करूँगा—इसे अपने से दूर करनेवाला बनूँगा। २. प्रभु कहते हैं कि ऐसा करने पर **आशवः**=शीघ्रगामी अश्वोंवाले **रथाः इव**-रथों की भाँति तुम **शपथेभिः**-आक्रोशों से **उत् सरिष्यथ**-बाहर गतिवाले होओगे—तुम्हारा जीवन आक्रोशों से ऊपर उठ जाएगा। '**आकुष्टः कुशलं वदेत्**' का पाठ पढ़कर तुम सदा आक्रोश से दूर रहोगे।

भावार्थ—उस प्रभुरूप कवच को पहनकर हम संसार के अनुराग से ऊपर उठें, अनासक्तभाव से कर्त्तव्यकर्मों को करते हुए हम लोग आक्रोशों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

एकशतं विष्कन्धानि

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम्॥ ६॥

१. **एकशतम्**=एक और सौ, अर्थात् एक सौ एक **विष्कन्धानि**-विश्वभूत रोग **पृथिवीं अनु विष्ठिता**-इस शरीररूप पृथिवी में रह रहे हैं। ये रोग ही वे विघ्न हैं जो हमें उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ने से रोकते हैं। २. **तेषां अग्रे**-उनके सामने, अर्थात् उनपर आक्रमण करने के लिए **देवाः**-देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **विष्कन्धदूषणम्** रोगरूप इन सब विघ्नों को दूषित करनेवाली **त्वां मणिम्**=तुझ मणि को—वीर्यरूप मणि को **उत् जहरुः**-शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला करते हैं। शरीर में व्याप्त हुई-हुई यह मणि सब रोगों को विशेषरूप से कम्पित करनेवाली होती है।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर रोगरूप विघ्न कम्पित होकर दूर हो जाते हैं और उन्नति पथ पर आगे बढ़ना सम्भव होता है।

विशेष—वीर्य की ऊर्ध्वगति करनेवाला यह पुरुष 'अथर्वा' बनता है। यह दिन को बड़ी सुन्दरता से बिताता है। यही विषय अगले सूक्त में कहा गया है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उषारूप धेनु

प्रथमा ह व्यु॑वास सा धेनुरभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ १॥

१. दिन आठ अष्टकों में बटा है—आठ प्रहर का दिन होता है। उनमें उषा से प्रथम अष्टक प्रारम्भ होता है—यह एकाष्टका है—मुख्य (प्रथम) अष्टकवाली। यह **प्रथमा**=दिन के प्रारम्भ में आनेवाली उषा **ह**-निश्चय से **वि उवास**-अन्धकार को दूर (विवासित) करती है। **सा**-वह उषा **यमे**-संयत जीवनवाले पुरुष के विषय में **धेनुः अभवत्**-ज्ञानदुग्ध देनेवाली होती है। २.

सा वह उषा **नः** हमारे लिए **पयस्वती** आप्यायन व वर्धन का कारण बनती हुई **दुहाम्** हममें ज्ञानदुग्ध का प्रपूरण करे। **उत्तराम् उत्तराम् समाम्** अगले और अगले वर्षों में यह हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाली हो।

भावार्थ—आठ प्रहर का यह दिन उषा से आरम्भ होता है। यही प्रथम व मुख्य प्रहर होता है, जो उषा से आरम्भ होता है। यह हमारे लिए धेनु के समान हो और हममें ज्ञानदुग्ध का उत्तरोत्तर अधिकाधिक पूरण करनेवाला हो। हमारा कर्त्तव्य स्वाध्याय हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रात्रि (संवत्सरपत्नी)

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥ २॥

१. **देवाः** देववृत्ति के लोग **उपायतीम्**-समीप आती हुई **यां रात्रिं धेनुम्** जिस रात्रिरूप धेनु का **प्रतिनन्दन्ति** स्वागत करते हैं, **सा**-वह रात्रि **नः** हमारे लिए **सुमङ्गली**-उत्तम मङ्गल करनेवाली हो। रात्रि धेनु है। धेनु दुग्ध देती है, दुग्ध द्वारा हमारा वर्धन करती है। इसीप्रकार रात्रि भी हमारा आप्यायन करती है—हमें पुनः स्फूर्तिमय बना देती है, इसी से यह धेनु कहाती है। रात्रि में ओषधियों में रस का सञ्चार होता है। यह रात्रि रमयित्री है, परन्तु राक्षसी वृत्तिवालों के लिए यह अमङ्गलों व पापों का आधार बन जाती है। २. **या**-जो रात्रि **संवत्सरस्य** संवत्सर की **पत्नी**-पत्नी है—'**संवसन्ति अस्मिन् इति संवत्सरः**' उत्तम निवासवाले वर्ष की यह रात्रि पत्नी है। रात्रि संवत्सर को संवत्सर बनाती है। रात्रि प्रतिदिन हममें शक्ति का सञ्चार करती हुई हमारे जीवन के वर्षों को उत्तम बनाती है। यह रात्रि हमारे लिए सुमङ्गली हो।

भावार्थ—रात्रि धेनु है यह हमारी शक्तियों का फिर से आप्यायन करती है। यह संवत्सर की पत्नी है—हमारे निवास को प्रतिदिन उत्तम बनाती हुई हमारे जीवन के वर्षों को सचमुच 'संवत्सर' बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयु व धन देनेवाली रात्रि

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ३॥

१. हे **रात्रि** रात्रि! **यां त्वा** जिस तुझे हम **संवत्सरस्य प्रतिमाम्**-संवत्सर की प्रतिमा (बनानेवाली) के रूप में **उपास्महे**-उपासित करते हैं। यह रात्रि रमयित्री होती हुई, हमारी शक्तियों को नवीन-सा करती हुई हमारे वर्षों को सचमुच संवत्सर बनाती है। २. हे रात्रि! **सा** वह तू **नः**-हमारी **आयुष्मतीं प्रजाम्**-दीर्घजीवनवाली सन्तानों को **रायस्पोषेण** धन के पोषण के साथ **संसृज**-संसृष्ट कर। प्रत्येक रात्रि में अपनी शक्तियों को नवीन करती हुई हमारी प्रजाएँ सचमुच दीर्घायुष्य व उत्तम धन को प्राप्त करनेवाली बनें।

भावार्थ—रात्रि संवत्सर की प्रतिमा है। प्रतिदिन शक्तियों को नवीन सा करती हुई यह हमारे जीवन के वर्षों को संवत्सर बनाती है। इस रात्रि का शयन में ठीक से प्रयोग करती हुई हमारी सन्तानें दीर्घजीवी व धन के पोषणवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'महान् महिमावाला' उषाकाल

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥

१. **इयं एव सा**=यही वह उषा है **या**=जोकि **प्रथमा**-दिन में सर्वप्रथम अष्टकवाली **वि औच्छत्**=विशेषरूप से अन्धकार को दूर करती है। **आसु इतरासु**-दिन के अन्य भागों में **प्रविष्टा**=प्रविष्ट हुई-हुई **चरति**-विचरण करती है। उषा ही मानो बड़ी होती हुई दिन के प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्न व सायाह्न आदि पाँच भागों में तथा इनके अन्तरालवर्ती चार कालों (आत, रुग्ण, सन्तप, खनि) में गति करती है। **अस्यां अन्तः**-इस उषाकाल में **महान्तः महिमानः**=महान् महिमाएँ हैं, अर्थात् यह समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस समय वायुमण्डल में भी ओज़ोन गैस की अधिकता होने से स्वास्थ्य पर सुन्दर प्रभाव पड़ता है। शान्ति का समय होने से मन के लिए यह उत्तम होता है। सामान्यतया चित्त की एकाग्रता के लिए यह समय उपयुक्ततम होता है, एवं स्वाध्याय के लिए यह समय अमूल्य है। यह **वधूः**=सूर्य की पत्नीरूप उषा **जिगाय**-विजयी होती है—सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होती है। **नवगत्**=दिन के नौ-के-नौ भागों में गतिवाली होती है व स्तुत्य गतिवाली होती है, **जनित्री**-यह हमारी शक्तियों की जनयित्री—विकास करनेवाली है।

भावार्थ—उषा अन्धकार को दूर करती हुई आती है और दिन के अगले भाग में गति करती हुई विजयी होती है। समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—यह हमारे जीवन को महिमान्वित करता है। इस समय सोये रह जाना बड़ी भारी मूर्खता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुप्रजसः, सुवीराः, रयीणां पतयः

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

१. **वानस्पत्याः**=शरीर-रक्षण के लिए वनस्पति पदार्थों का ही प्रयोग करनेवाले **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **घोषम् अक्रत**-स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं। ये **परिवत्सरीणम्**=वर्षभर व्यवहृत होनेवाली **हविः**=हवि को **कृण्वन्तः**=सम्पादित करते हैं—वर्षभर प्रतिदिन यज्ञ करते हैं। २. हे **एकाष्टके**=मुख्य अष्टक—दिन के प्रथम अष्टक में आनेवाली उषे! स्तुति व यज्ञों को करते हुए **वयम्**=हम **सुप्रजसः**=उत्तम प्रजावाले, **सुवीराः**=उत्तम वीर तथा **रयीणां पतयः**=धनों के स्वामी **स्याम**=हों।

भावार्थ—वर्षभर प्रतिदिन स्तुति व यज्ञ करते हुए हम उत्तम प्रजावाले, वीर व धनों के स्वामी हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वाध्याय+यज्ञ

इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥

१. **इडायाः**=इस वेदवाणी का **पदम्**=शब्द **घृतवत्**=मेरे लिए ज्ञान की दीप्तिवाला हो तथा **सरीसृपम्**=मुझे खूब ही क्रियाशील बनाए। हे **जातवेदः**-अग्ने! तू **हव्या**-हव्यों को **प्रतिगृभाय**-

प्रतिदिन ग्रहण करनेवाला हो, अर्थात् मैं प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाला बनूँ। स्वाध्याय के द्वारा मैं अपने ज्ञान को बढ़ाऊँ, उस ज्ञान के अनुसार गतिवाला होऊँ तथा यज्ञशील बनूँ। २. **ये**-जो भी **विश्वरूपाः**-नानारूपोंवाले **ग्राम्याः पशवः**-ग्रामवासी प्राणी हैं, **तेषाम्** उन **सप्तानाम्** सर्पणशील प्राणियों की **मयि**-मुझमें **रन्ति**=प्रीति **अस्तु**-हो।

भावार्थ—हम स्वाध्याय व यज्ञ को अपनाएँ। हम सब प्राणियों के प्रिय हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराड्गर्भातिजगती** ॥

पुष्टे च पोषे च

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत।
सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर॥ ७॥

१. हे **रात्रि** रात्रि! तू **मा** मुझे **पुष्टे** अङ्ग-प्रत्यङ्ग की दृढ़ता में **च** और **पोषे च** धनादि आवश्यक साधनों के पोषण में **आ (स्थापित)** स्थापित कर। हम सदा **देवानाम्**-देववृत्ति के पुरुषों की **सुमतौ** कल्याणी मति में **स्याम**-हों, सदा देवों की भाँति शुभ विचारोंवाले बनें। २. यज्ञ के समय हे **दर्वे**-घृत के चम्मच! **पूर्णा** पूरा भरा हुआ तू **परापत** दूर अग्नि की ओर जा— अग्नि के द्वारा सारे वायुमण्डल में तू सूक्ष्म कणों के रूप में पहुँचनेवाला हो। वहाँ इन देवों से **सुपूर्णा** उत्तम अन्न आदि से पूर्ण हुआ हुआ तू **पुनः आपत**-फिर हमें प्राप्त हो। हे देवि! **सर्वान् यज्ञान्** सब यज्ञों का **संभुञ्जती** सम्यक् पालन करती हुई तू **नः** हमारे लिए **इषम् ऊर्जम्**-अन्न व रस को **आभर**=समन्तात् प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ-हम रात्रि में पूर्ण निद्रा लेकर स्वस्थ बनें। धनों को प्राप्त करके सदा यज्ञशील होते हुए उत्तम अन्न-रस के भागी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्ष का प्रारम्भ

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ८॥

१. प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में सोकर उठने पर हमें यह धारणा करनी चाहिए कि **अयम्** यह **संवत्सरः** हमारे निवास को उत्तम बनानेवाला वर्ष **आ अगन्**-आया है—आज नववर्ष का आरम्भ होता है। हे **एकाष्टके** दिन के प्रथम व मुख्य अष्टकवाली उषे! यह **तव पतिः** तेरा पति है—तू इसकी पत्नी है। तू ही वस्तुतः इसे संवत्सर—उत्तम निवासवाला बनाती है। २. **सा**-वह तू **नः** हमारी **आयुष्मतीं प्रजाम्**-दीर्घजीवी सन्तानों को **रायस्पोषेण संसृज** धन के पोषण से युक्त कर। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रबुद्ध होती हुई हमारी सन्तानें दीर्घजीवी व धन धान्य-सम्पन्न बनें।

भावार्थ—वर्ष के प्रारम्भिक दिन हम उषा जागरण का व्रत लें तथा निश्चय करें कि अपने जीवन को उत्तम बनाकर हम सन्तानों को दीर्घजीवी व सम्पन्न बनाने के लिए यत्नशील होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञों से ऋतुओं का अविपर्यय

ऋतून्यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्। समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे॥ ९॥

१. **ऋतून् यजे**=मैं ऋतुओं के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। **ऋतुपतीन्**=ऋतुओं के पति अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। **आर्तवान्**-इन ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। २. **उत**=और **हायनान्**=संवत्सर-सम्बन्धी दिन-रात का लक्ष्य करके (जहति जिहते वा भावान्) **समाः**=सम प्रविभक्त चौबीस संख्यावाले अर्धमासों का लक्ष्य करके **संवत्सरान्**-वर्षों का लक्ष्य करके तथा **मासान्**=चैत्र आदि बारह मासों का लक्ष्य करके मैं यज्ञ करता हूँ। यज्ञ से सब ऋतुएँ व कालविभाग ठीक से अपना-अपना कार्य करते हैं। यज्ञ कालविकृतिजन्य आधिदैविक आपत्तियों को दूर करता है। ३. मैं **भूतस्य पतये**-सब प्राणियों के स्वामी उस प्रभु का **यजे**-यज्ञ द्वारा पूजन करता हूँ। यह यज्ञ मुझे परमात्मा के समीप प्राप्त करानेवाला होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**।

भावार्थ—सब गृहों में यज्ञ होने पर ऋतुओं व काल के विपर्यय से होनेवाले कष्ट दूर होते हैं। इन यज्ञों से ही प्रभु का उपासन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन

ऋतुभ्य॑ष्ट्वार्त॒वेभ्यो॑ मा॒द्भ्यः सं॑वत्स॒रेभ्यः॑। धा॒त्रे वि॑धा॒त्रे स॒मृधे॑ भू॒तस्य॒ पत॑ये यजे॥ १०॥

१. हे उषे! **ऋतुभ्यः**-ऋतुओं के लिए **त्वा यजे**=मैं तेरा यजन करता हूँ। प्रत्येक उषा में यज्ञ करता हुआ मैं ऋतुओं को अनुकूल बनाता हूँ। **आर्तवेभ्यः**=ऋतुओं में होनेवाले पदार्थों के लिए **माद्भ्यः**-मासों के लिए, **संवत्सरेभ्यः**-वर्षों के लिए मैं यज्ञ करता हूँ। इन सबकी अनुकूलता के लिए मैं यज्ञ करता हूँ। २. **धात्रे**-धारण करनेवाले प्रभु के लिए **विधात्रे**=सम्पूर्ण संसार के निर्माता प्रभु के लिए तथा **समृधे**=समृद्धि प्राप्त करानेवाले **भूतस्य पतये**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभु के लिए मैं यज्ञ करता हूँ।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा ऋतुओं की अनुकूलता होती है और प्रभु का उपासन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सम्पन्न गोमान्' गृह

इड॑या जु॒ह्व॑तो व॒यं दे॒वान्घृ॒तव॑ता यजे। गृ॒हानलु॑भ्यतो व॒यं सं वि॑शे॒मोप॒ गोम॑तः॥ ११॥

१. **घृतवता इडया**-घृतवती वेदवाणी के द्वारा **जुह्वतः**-आहुति देते हुए **वयम्**=हम **देवान् यजे**-अग्नि, वायु आदि सब देवों का लक्ष्य करके यज्ञ करते हैं। मन्त्रोच्चारणपूर्वक घृत की आहुति देते हुए हम सब देवों—प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता का सम्पादन करते हैं। २. इन यज्ञों के द्वारा **वयम्**=हम **गृहान् उप संविशेम**=घरों में शान्तिपूर्वक निवास करनेवाले हों जोकि **अलुभ्यतः**-लोभ से रहित—चाहने योग्य सभी वस्तुओं से युक्त हैं तथा **गोमतः**-प्रशस्त गौओं से युक्त हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का उच्चारण करते हुए हम अग्नि में घृत की आहुतियाँ दें। इससे जहाँ अग्नि-वायु आदि देवों की अनुकूलता होगी, वहाँ हमारे घर सब इष्ट वस्तुओं व गौओं से परिपूर्ण होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उषाकाल में प्रभु-दर्शन

ए॒का॒ष्ट॒का त॒प॑सा त॒प्यमा॑ना ज॒जान॒ गर्भं॑ महि॒मान॒मिन्द्र॑म्।
तेन॑ दे॒वा व्य॑षहन्त॒ शत्रू॑न्ह॒न्ता दस्यू॑नामभव॒च्छची॒पतिः॑॥ १२॥

१. **एकाष्टका** यह प्रथम व मुख्य अष्टक-(दिन के प्रथमभाग)-वाली उषा **तपसा तप्यमाना**-तप से दीप्त होती हुई उस **गर्भम्**-सब पदार्थों में गर्भरूप से रहनेवाले व सब पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करनेवाले, **महिमानम्** अतिशयेन पूज्य **इन्द्रम्**-परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जजान**-प्रकट करती है। उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम तपस्यामय जीवन बनाते हैं। स्वाध्याय ही सर्वमहान् तप है। इस तप से जीवन दीप्त बन जाता है। उस समय तप:पूत पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। २. **देवाः**-देववृत्ति के ये पुरुष **तेन**-उस प्रभु के द्वारा **शत्रून् व्यसहन्त**-काम क्रोध-लोभरूप शत्रुओं को पराभूत करते हैं। वह **शचीपतिः**-सब कर्मों और प्रज्ञानों का स्वामी प्रभु **दस्यूनाम्**-हमारी सब दास्यव वृत्तियों का **हन्ता** विनाशक **अभवत्**-होता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर स्वाध्यायरूप तप से दीप्त जीवनवाले बनें। प्रभु के प्रकाश को देखें। प्रभु के द्वारा सब आसुरभावों का विनाश करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'इन्द्र-पुत्रा—प्रजापति-पुत्री' उषा

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः॥ १३॥

१. गतमन्त्र में कहा है कि उषा स्वाध्यायरूप तप से दीप्त होकर प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराती है। इसप्रकार प्रभु को प्रकट करने के कारण यह 'इन्द्र पुत्रा' कहलायी है—इन्द्ररूप पुत्रवाली तथा प्रभु इस उषा को उत्पन्न करते हैं, अतः यह उस प्रभु की दुहिता (पुत्री) है। हे **इन्द्रपुत्रे** परमैश्वर्यशाली प्रभुरूप पुत्रवाली, अर्थात् प्रभु का हमारे हृदयों में प्रकाश करनेवाली उषे! हे **सोमपुत्रे**=शरीर में सोम को पवित्र व रक्षित (पुनाति+त्रायते) करनेवाली उषे! तू **प्रजापतेः**-सब प्रजाओं के स्वामी प्रभु की **दुहिता असि** पुत्री है। २. तू **अस्माकं कामान् पूरय**-हमारी कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हो। तू **नः हविः**=हमारे द्वारा दी जानेवाली इस हवि को **प्रतिगृह्णाहि**-प्रति दिन गृहण कर, अर्थात् हम सदा उषाकाल में प्रबुद्ध होकर यज्ञशील बनें। यज्ञों के द्वारा ही तो प्रभु का पूजन होता है।

भावार्थ—उषा प्रभु का प्रकाश दिखाती है, हमारी कामनाओं को पूर्ण करती है। हम सदा उषा में प्रबुद्ध होकर यज्ञों को करें।

विशेष—प्रतिदिन यज्ञ करने से दीर्घजीवन प्राप्त होता है। यह विषय अगले सूक्त में प्रतिपादित हुआ है। यह यज्ञशील पुरुष महत्त्व को प्राप्त करके 'ब्रह्मा' बनता है। तपस्या इसे 'भृगु' बनाती है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला यह 'अङ्गिरा' होता है। यह कहता है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अज्ञातयक्ष्म राजयक्ष्म व ग्राहि' का विनाश

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥ १॥

१. प्रभु कहते हैं कि **त्वा**-तुझे **हविषा**-हवि के द्वारा—यज्ञों में घृत व हव्य पदार्थों के प्रक्षेप के द्वारा **कं जीवनाय**-सुखपूर्ण जीवन के लिए **अज्ञात् यक्ष्मात्**-अज्ञात रोगों से **उत**=तथा **राजयक्ष्मात्**=राजरोग (क्षयरोग) से **मुञ्चामि**-छुड़ाता हूँ। २. **यदि**=यदि **एतत्**-(इदानीम्) अब **एनम्** इस पुरुष को **ग्राही**-पकड़ लेनेवाला—जकड़ लेनेवाला वातरोग **जग्राह**=पकड़ लेता है

तो **एनम्**-इस रोगी को **इन्द्राग्नी**-सूर्य और अग्नि—सूर्य किरणों के समय अग्नि में किया जानेवाला अग्निहोत्र **तस्याः**=उस रोग से **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करे।

भावार्थ—अग्निहोत्र द्वारा अज्ञात रोग, क्षयरोग व ग्राही (वातरोग) दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'क्षितायु व परेत' की रोगनिवृत्ति

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नी॑त ए॒व।
तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्शमेनं श॒तशा॑रदाय॥ २॥

१. **यदि**-यदि **क्षितायुः**-यह रोगी क्षीण जीवनवाला हो गया हो, **यदि वा**-अथवा **परा इतः**-यह रोगों में दूर चला गया हो, **यदि**=यदि **मृत्योः अन्तिकम्**=मृत्यु के समीप **एव**=ही **नीतः**=ले-जाया गया है, अर्थात् एकदम मरणासन्न हो तो भी **तम्**-उस रोगी को **निर्ऋतेः उपस्थात्**-दुर्गति (मृत्यु) की गोद से **आहरामि**-मैं वापस ले-आता हूँ। हवि के द्वारा इसे रोगों से मुक्त कर देता हूँ। २. मैं **एनम्**=इसे **शतशारदाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए **अस्पार्शम्**=(अस्पार्षम्) बल व प्राणयुक्त करता हूँ अथवा इसे छूता हूँ (स्पृश्) और छूकर रोग-निवृत्त करता हूँ।

भावार्थ—क्षीण जीवनवाले, बढ़े हुए रोगवाले, मरणासन्न पुरुष को भी मैं बल व प्राणयुक्त करके दीर्घजीवनवाला करता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सहस्राक्ष-शतवीर्य-शतायु' हवि

स॒ह॒स्रा॒क्षेण॑ श॒तवी॑र्येण श॒तायु॑षा ह॒विषाहा॑र्षमेनम्।
इन्द्रो॒ यथै॑नं श॒रदो॒ नया॒त्यति॒ विश्व॑स्य दु॒रि॒तस्य॒ पा॒रम्॥ ३॥

१. **सहस्राक्षेण**=(सहस्रं अक्षीणि दर्शनशक्तयो यस्य) हज़ारों दर्शनशक्तियोंवाली, **शतवीर्येण**-श्रोत्रादि इन्द्रियों से सम्बद्ध अपरिमित वीर्योंवाली, **शतायुषा**-शतवर्षों का जीवन देनेवाली **हविषा**=हवि के द्वारा—अग्नि में हविर्द्रव्यों के प्रक्षेप के द्वारा **एनम्**-इस रोगी को **आहार्षम्**-रोग से बाहर निकलता हूँ। अग्नि में हव्य पदार्थों को डालता हुआ मैं इसप्रकार यज्ञों को करता हूँ **यथा**=जिससे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **एनम्**-इस रोगी को **शरदः**-वर्षों तक—सौ वर्ष के दीर्घजीवन तक **विश्वस्य दुरितस्य**-सब दुरितों के **पारम् अतिनयति**-पार ले जाते हैं। सब दुरितों से पार करके इसे पूर्ण स्वस्थ बनाते हैं।

भावार्थ—यह हवि (अग्निहोत्र में आहुत पदार्थ) दर्शनशक्ति को बढ़ाते हैं, कान आदि इन्द्रियों की शक्ति को ठीक रखते हैं और सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाजगती**॥

दीर्घजीवन के साधक, 'अग्नि, इन्द्र, सविता व बृहस्पति'

श॒तं जी॑व श॒रदो॒ वर्ध॑मानः श॒तं हे॑म॒न्तान्छ॒तमु॑ वस॒न्तान्।
श॒तं त॒ इन्द्रो॑ अ॒ग्निः स॑वि॒ता बृह॒स्पतिः॑ श॒तायु॑षा ह॒विषाहा॑र्षमेनम्॥ ४॥

१. अग्निहोत्र द्वारा रोगविमुक्त हे पुरुष! **शतं शरदः**=सौ वर्षपर्यन्त **वर्धमानः**-सब शक्तियों की दृष्टि से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ तू **जीव**=जीवन धारण कर। **शतं हेमन्तान्**=सौ हेमन्त ऋतुओं तक तू जी। **उ**=और **शतं वसन्तान्**=सौ वसन्त ऋतुओं तक जीनेवाला बन। सर्दी, गर्मी, वर्षा सभी ऋतुओं में नीरोग रहता हुआ तू सौ वर्ष तक जीनेवाला बन। २. **इन्द्रः**-जितेन्द्रयता

की देवता, **अग्निः**-प्रगति की भावना, **सविता**-निर्माण की प्रवृत्ति तथा **बृहस्पतिः**-ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता—ये सब **ते** तेरे लिए **शतम्** शतवर्ष के जीवन को करनेवाले हों। मैं **शतायुषा**-शतवर्ष के आयुष्य को प्राप्त करानेवाले **हविषा**-हवि के द्वारा **एनम्**-इस रोगी को **आहार्षम्** रोगों से बाहर ले-आता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र हमारे दीर्घजीवन का साधन बने। 'जितेन्द्रियता, प्रगतिशीलता, निर्माणवृत्ति, ज्ञानरुचिता' हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणापानौ

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम्॥ ५॥

१. **प्राणापानौ**-प्राण व अपानशक्ति—शरीर में शक्ति के आधायक प्राण तथा दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति **प्रविशतम्** शरीर में इसप्रकार प्रविष्ट होकर स्थित हों **इव** जैसेकि **अनड्वाहौ** शकट का वहन करनेवाले दो बैल **व्रजम्** अपने निवास स्थान गोष्ठ में प्रवेश करते हैं। २. **अन्ये मृत्यवः**-मृत्यु के कारणभूत ये विलक्षण रोग **वियन्तु**-विशेषरूप से दूर चले जाएँ। **यान् इतरान्**-स्वाभाविक मृत्यु से भिन्न जिन रोगों को **शतं आहुः**-सौ संख्यावाला कहते हैं, ये सौ-के-सौ रोग प्राणापान की शक्ति से दूर भगा दिये जाएँ।

भावार्थ—प्राण व अपानशक्ति शरीर में स्थिर होकर सर्वरोगों को दूर करनेवाली हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पूर्ण सौ वर्ष तक

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम्। शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः॥ ६॥

१. हे **प्राणापानौ**-प्राण व अपानशक्ते! आप दोनों **इह एव स्तम्**-यहाँ शरीर में ही होओ। **इतः** यहाँ से **युवम्**-तुम दोनों **मा अपगातम्**-दूर मत जाओ। २. यहाँ रहते हुए **पुनः** फिर आप दोनों **अस्य**-इसके **शरीरम्** शरीर को तथा **अङ्गानि** शरीर के सब अङ्गों को **जरसे** पूर्ण जरावस्थापर्यन्त **वहतम्**-धारण करनेवाले होओ।

भावार्थ—प्राणापान शरीर को, अङ्ग प्रत्यङ्ग को सौ वर्ष तक शक्तिशाली बनाये रक्खें।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥
छन्दः—**उष्णिग्बृहतीगर्भापथ्यापङ्क्तिः**॥

भद्रशक्तियों से युक्त जरावस्था

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम्॥ ७॥

१. **त्वा**-तुझे **जरायै**-पूर्ण वृद्धावस्था के दीर्घजीवन के लिए **परिददामि** देता हूँ। **त्वा**-तुझे **जरायै**-इस पूर्ण वृद्धावस्था के दीर्घजीवन के लिए **निधुवामि** प्रेरित करता हूँ। यह **जरा** वृद्धावस्था **त्वा**-तुझे **भद्रा नेष्ट**-सब भद्र वस्तुओं को प्राप्त कराये। २. ये **अन्ये** विलक्षण **मृत्यवः** रोग **वियन्तु**-सर्वथा दूर चले जाएँ। **यान् इतरान्** स्वाभाविक मृत्यु से भिन्न जिन रोगों को **शतं आहुः**-संख्या में सौ कहते हैं।

भावार्थ—हम पूर्ण वृद्धावस्थापर्यन्त भद्र शक्तियों से युक्त हुए हुए सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्** ॥
छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भाजगती** ॥

सत्यव्यवहार से मृत्युबन्धनमुक्ति

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः॥ ८॥

१. हे जीव! **इव**=जैसे **उक्षणं गाम्**=शक्ति का सेचन करनेवाले वृषभ को **रज्ज्वा**=रस्सी से बाँधते हैं, इसीप्रकार **त्वा**=तुझे **जरिमा**=यह जरा **अभि, अहित**=बाँधती है। **जायमानम्**=उत्पन्न होते हुए ही **त्वा**=तुझे **यः मृत्युः**=जो मृत्यु **सुपाशया**=दृढ़ पाश से **अभ्यधत्त**=बाँधती है, **सत्यस्य हस्ताभ्याम्** सत्य के हाथों के द्वारा **ते**=तेरी **तम्**=उस मृत्यु को **बृहस्पतिः**=ज्ञान की देवता **उदमुञ्चत्**=छुड़ा देता है। २. मनुष्य उत्पन्न होते ही मृत्यु के बन्धन में बद्ध हो जाता है। सत्य का व्यवहार इसे मृत्यु के बन्धन से छुड़ाता है।

भावार्थ—सत्य का व्यवहार दीर्घजीवन का कारण है।

विशेष—अग्निहोत्र आदि साधनों से दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाला यह 'ब्रह्मा' बनता है। यह उत्तम घर का निर्माण करता है इस घर का वर्णन ही अगले सूक्त में है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ध्रुवा-घृतमुक्षमाणा' शाला

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम॥ १॥

१. **इह एव**=यहाँ—निश्चित किये हुए स्थान पर ही **शालाम्**=गृह को **ध्रुवाम् निमिनोमि**=स्तम्भ गाड़ने आदि के द्वारा स्थिर करता हूँ। वह स्थिर किया हुआ गृह=घर **घृतं उक्षमाणा**=घृत आदि आवश्यक पदार्थों से सिक्त=भरपूर होता हुआ **क्षेमे तिष्ठाति**=अग्न्यादि की बाधा के राहित्य से कल्याणपूर्वक स्थित हो। २. हे **शाले**=गृह! **तं त्वा**=उस तुझमें **सर्ववीराः**=हम सब वीर **अरिष्टवीराः**=अहिंसित व रोग आदि को कम्पित करके दूर करनेवाले **सुवीराः**=उत्तम पराक्रमी बनकर **उप संचरेम**=गति करें।

भावार्थ—गृह को स्थिर, आवश्यक सामग्री से सम्पन्न व अग्नि आदि की बाधा के राहित्यवाला बनाया जाए। इसमें हम सब वीर, नीरोग व पराक्रमी होकर विचरें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

'ऊर्जस्वती, पयस्वती, घृतवती' शाला

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ २॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **इह एव**=इस स्थान पर ही **ध्रुवा प्रतितिष्ठ**=स्थिर होकर स्थित हो। तू **अश्वावती**=प्रशस्त अश्वोंवाली, **गोमती**=प्रशस्त गौओंवाली व **सूनृतावती**=बालकों की प्रिय, सत्यवाणी से युक्त होकर हमारे **महते सौभाग्य**=महान् सौभाग्य के लिए **उत् श्रयस्व**=उद्गत हो—उत्कृष्ट रूपवाली हो। २. **ऊर्जस्वती**=पौष्टिक अन्नवाली, **घृतवती**=घृत से युक्त तथा **पयस्वती**=

बहुक्षीरा होती हुई हमारे सौभाग्य के लिए हो।

भावार्थ—घर गौओं, घोड़ों व प्रिय सत्यवाणियों से युक्त हों ये पौष्टिक अन्न, घृत व दुग्ध से सम्पन्न होते हुए हमारे महान् सौभाग्य के लिए हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**बृहती**॥

'वत्सः', 'धेनवः सायमास्पन्दमानः'

धरुण्य᳚सि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः॥ ३॥

१. हे **शाले**-गृह! तू **धरुणी**=सब भोग्य पदार्थों का धारण करनेवाला **असि**=है अथवा धरुणों से—धारक स्तम्भों से युक्त है, **बृहच्छन्दाः**-प्रभूत आच्छादनों-(वस्त्रों)-वाला व वेद के छन्दों से खूब ही युक्त है, **पूतिधान्या**-पवित्र धान्यों से युक्त है, अथवा पूतिगन्धवाले जीर्ण धान्यों से युक्त है। २. एवंभूत **त्वा**-तुझमें **वत्सः**-प्रिय बछड़ा तथा **कुमारः**-बालक **आगमेत्** आये तथा **धेनवः** दूध देनेवाली गौएँ **सायम्** सायंकाल **आस्पन्दमानाः** कूदती-फाँदती **आ (गमेत्)** आएँ। गौएँ चरने के लिए बाहर खुली हवा में दिन बिताकर सायं लौटें। 'वत्सः कुमारः' शब्दों का प्रयोग यही कह रहा है कि इस शाला में गौएँ वत्स समेत हों और स्त्रियाँ कुमार समेत हों।

भावार्थ—घर में भोग्यपदार्थों और वस्त्रों की कमी न हो, यह धन धान्य युक्त हो। इसमें गौएँ बछड़ों से युक्त हों और स्त्रियाँ स्वस्थ कुमारोंवाली हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सविता, वायुः, इन्द्रः बृहस्पतिः

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु॥ ४॥

१. **इमां शालाम्**=इस घर को **सविता**-निर्माण की वृत्तिवाला, **वायुः**-क्रियाशील, **इन्द्रः** जितेन्द्रिय, **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **प्रजानन्**-सम्यक् जानता हुआ **निमिनोतु** स्तम्भ आदि गाड़ने के द्वारा स्थिर बनाएँ। इस शाला में सूर्य किरणों, सविता व वायु का प्रवेश ठीक से हो तथा इसमें रहनेवाले जितेन्द्रिय (इन्द्र) व ज्ञानी (बृहस्पति) हों। २. **मरुतः** वृष्टि लानेवाली वायुएँ इन घरों को **उद्ना**=उदक से और परिणामतः **घृतेन**-घृत से **उक्षन्तु**-सिक्त करें। वृष्टि होकर घास आदि के प्राचुर्य से पशुओं का चारा ठीक मिलता है और फिर दूध-घी की कमी नहीं रहती। ३. इस राष्ट्र में **भगः**-ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला **राजा**=प्रशासक **नः**-हमारे लिए **कृषिम्**-कृषि को **निमिनोतु**-निश्चय से विस्तृत करे, कृषि द्वारा प्रभूत अन्न उपजाने की व्यवस्था करे।

भावार्थ—घर में सूर्य की किरणें व वायु का प्रवेश ठीक हों। इसमें जितेन्द्रिय व ज्ञानी पुरुषों का वास हो। वायुएँ वृष्टि को लानेवाली हों। राजा भी कृषि के विस्तार का ध्यान करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शरणा स्योना' शाला

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः॥ ५॥

१. **मानस्य पत्नि**-सन्मान की रक्षिका शाले! अथवा मीयमान (मापे-तोले जानेवाले) धान्य

की पालयत्रि! तू **शरणा**-हमें शरण देनेवाली है, **देवी**=द्योतमान—प्रकाशमान है। तू **अग्रे**=सर्वप्रथम **देवेभिः**=देवों के द्वारा **निमिता असि**=मानपूर्वक बनाई गई है। २. **तृणं वसाना**=तृण को अपने ऊपर आच्छादित करती हुई **त्वम्**-तू **सुमनाः असः**-उत्तम मनवाली हो—तुझमें रहनेवाले सभी व्यक्ति प्रसन्नचित्त हों। **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीरम्** वीर पुत्रों के साथ **रयिं दाः**=धन प्रदान कर।

भावार्थ—घर बड़े माप से बनाया जाए। यह हमें शरण देनेवाला और सुखदायी हो। तृणों से छता हुआ यह गृह हमें शीतोष्ण से बचानेवाला हो। इसमें रहनेवाले सब उत्तम मनवाले, उत्तम सन्तानोंवाले और सम्पन्न हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाजगती** ॥

शतं जीव शरदः सर्ववीराः

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः॥ ६॥

१. हे **वंश**-बाँस! तू **ऋतेन**=अपने ऋत से (Right)—सीधेपन से **स्थूणाम्**=स्तम्भ पर **अधिरोह**=आरोहण करनेवाला हो। खम्भों पर सीधे बाँस रक्खे जाएँ। **उग्रः**=खूब तेजस्वी—दृढ़ **विराजन्**-विशिष्ट रूप से दीप्त होता हुआ तू **शत्रून्**-हमारे शत्रुरूप शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों को **अपवृङ्क्ष्व**=काटनेवाला हो—सरदी-गरमी आदि से तू बचानेवाला हो। २. हे **शाले**=भवन! **ते गृहाणाम्**-तेरे कमरों में **उपसत्तारः**-निवास करनेवाले **मा रिषन्**-हिंसित न हों। हम **सर्ववीराः**-घर में रहनेवाले सब वीर बनकर **शतं शरदः**=सौ वर्ष तक **जीवेम**-जीएँ।

भावार्थ—घर हमें सरदी-गरमी आदि से रक्षित करनेवाला हो। इसमें रहनेवाले सभी जन वीर व दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्** ॥

दधि+मधु

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः॥ ७॥

१. **इमाम्**-इस शाला में **तरुणः**=वासनाओं को तैर जानेवाला **कुमारः**-कुमार आ (गच्छतु) प्राप्त हो। **वत्सः**=बछड़ा **जगता सह**=गमनशील गौ आदि में साथ **आ (गच्छतु)**=प्राप्त हो। २. **इमाम्**=इस शाला को **परिस्रुतः**-प्रस्रवणशील शहद आदि का भरा हुआ **कुम्भः**=घड़ा **आ**=प्राप्त हो। ये घड़े **दध्नः कलशैः**=दही के कलशों-घड़ों के साथ **अगुः**-प्राप्त हों।

भावार्थ—घर में तरुण कुमारों व बछड़ों का आगमन हो। यहाँ दधि-घटों के साथ शहद के कुम्भ प्राप्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'जल, घृत, दुग्ध'-पूर्ण शाला

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ ८॥

१. हे **नारि**=गृहपत्नि! **एतम्**=इस **पूर्णं कुम्भम्**=जल से परिपूर्ण घड़े को **प्रभर**=घर में प्राप्त करा तथा **अमृतेन**=सब रोगों के वारक गोदुग्ध से **संभृताम्**=संभृत **घृतस्य धाराम्**=घृत की धारा

को प्राप्त करा। ताज़ा दूध को जमाकर दधि से प्राप्त घृत की धाराएँ प्रतिदिन घर में बहती हों—घृत पर्याप्त मात्रा में हो। २. **इमाम्**-इस घृत की धारा को **पातॄन्** पीनेवालों को **अमृतेन** नीरोगता से **समङ्ग्धि** सन्दीप्त व अलंकृत कर। **इष्टापूर्तम्** यज्ञ व दान आदि के कार्य **एनाम्**-इस शाला को **अभिरक्षाति**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—घर में जल, ताज़ा दूध व घृत की कमी न हो। इनका सेवन करनेवाले नीरोग बनें रहें। यज्ञ व दान इस शाला का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः **ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयक्ष्म-जल, अमृत अग्नि

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ ९॥

१. **इमाः**-इन **अयक्ष्माः**=यक्ष्मा से रहित, यक्ष्मा-कृमियों से अनाक्रान्त **यक्ष्मनाशनीः** यक्ष्मा को, रोग को विनष्ट करनेवाले **आपः**-जलों को **प्रभरामि** घर में प्राप्त कराती हूँ। २. **अमृतेन** कभी न मरनेवाले, सदा प्रज्वलित रहनेवाले **अग्निना सह**-यज्ञाग्नि के साथ **गृहान्**-घरों को **उपप्रसीदामि** समीपता से प्राप्त होती हूँ। घर में यज्ञाग्नि कभी बुझनी नहीं चाहिए—सदा यज्ञ होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—घरों में रोगकृमियों से अनाक्रान्त जलों की कमी न हो, यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं।

विशेष—अगले सूक्त में इन जलों का ही वर्णन है। इन जलों को अग्निपक्व करके इनका प्रयोक्ता 'भृगु' (भ्रस्ज पाके) इस सूक्त का ऋषि है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥

नदनात् 'नद्यः'

यददः संप्रयतीरहावनदता हते।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥ १॥

१. **अदः**-(अमुष्मिन्) उस **अहौ** आहन्तव्य मेघ के **हते**-ताड़ित होने पर हे जलो! तुम **यत्** चूँकि **संप्रयतीः**-मिलकर इधर उधर हुए **अनदत**-शब्द करते हो, **तस्मात्**-इस कारण से तुम **आ**-अभिमुख्येन—अव्यवधानेन ही **नद्यः नाम स्थ**-'नद्यः' इस नामवाले हो। २. हे **सिन्धवः** स्यन्दनशील जलो! **वः**-तुम्हारे **ता** वे **नामानि** 'आपः, उदकम्' आदि नाम भी अन्वर्थ ही हैं।

भावार्थ—मेघ के विद्युत् से आहत होकर बरसने पर ये जल शब्द करते हुए आगे बढ़ते हैं, अतः 'नद्यः' कहलाते हैं (नद शब्दे)।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'आप्यन्ते इति' 'आपः'

यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन॥ २॥

१ **यत्**-जब **वरुणेन**-जलों के अधिष्ठातृदेव वरुण प्रभु से **प्रेषिता** भेजे हुए तुम **आत्**-उस समय **शीभम्**-शीघ्र **सम् अवल्गत** सम्यक् गतिवाले होते हो, **तत्** तब **यतीः**-जाते हुए **वः** तुम्हें

इन्द्रः आप्नोत्=इन्द्रियों का स्वामी जीव प्राप्त करता है, **तस्मात्**=उस कारण से **आपः**='आपः' इस नामवाले **अनुस्थन**=होते हो। इन्हें इन्द्र—जितेन्द्रिय पुरुष ही प्राप्त करता है। आधिभौतिक जगत् में प्रभु से प्राप्त कराये गये जलों को इन्द्र=राजा नहरों आदि के रूप में प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरित जलों को इन्द्र प्राप्त करता है। प्राप्त किये जाने के कारण इनका नाम 'आपः' हो गया है (आप्नोति, प्राप्नोति)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वरण व वारण' के कारण 'वार'

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम्॥ ३॥

१. **अपकामम्**=बिना ही कामना के **स्यन्दमानाः**=बहते हुए **वः**=तुम्हें **इन्द्रः**=राजा ने **वः** तुम्हारी **शक्तिभिः**=शक्तियों के हेतु से **हि कम्**=निश्चयपूर्वक तुम्हारा **अवीवरत**=वरण किया है—तुम्हें रोका है। बाँध आदि के द्वारा अपने अधीन करने की कामना की है। २. हे **देवीः**=दिव्य शक्तियोंवाले जलो! अनेक व्यवहारों के साधक जलो! **वः**=तुम्हारा **वाः**='वार' यह **नाम**=नाम **हितम्**=रक्खा है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में मनमाने बहते हुए जलों को बाँध लगाकर रोकता है और उनकी शक्तियों का विविध व्यवहारों में विनियोग करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उदानिषुः इति 'उदकम्'

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत्स्यन्दमाना यथावशम्।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते॥ ४॥

१. **एकः**=वह अद्वितीय **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **यथावशम्**=इच्छानुसार **स्यन्दमानाः**=बहते हुए **वः**=तुम्हें **अप्यतिष्ठत्**=अधिष्ठित करता है। जलों का अधिष्ठाता प्रभु ही तो है। **महीः इति**='हम कितने महान् हैं' कि प्रभु हमारा अधिष्ठाता है, इसप्रकार **उदानिषुः**=जलों ने उच्छ्वास लिया, **तस्मात्**=इस कारण से **उदकम् उच्यते**=इनका नाम उदक हो गया (उत् अन्+क, नकार लोप)। प्रभु से अधिष्ठित ये महनीय जल सबको प्राणित करते हैं, अतः 'उदक' कहलाते हैं।

भावार्थ—उस अद्वितीय प्रभु से अधिष्ठित ये जल सबके लिए जीवन देनेवाले होते हैं, अतः 'उदक' शब्द वाच्य होते हैं (उत् आनयन्ति प्राणयन्ति)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

प्राणेन वर्चसा सह

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत्ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥ ५॥

१. **आपः**=ये जल **भद्राः**=भन्दनीय (स्तुत्य) व कल्याणकर हैं। अग्निकुण्ड में आहुतिरूपेण डाले हुए **घृतम् इत्**=घृत ही **आपः असन्**=जलरूप हो जाते हैं (अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः॥ —मनु० ३.७६)। **ताः आपः**=ये जल **इत्**=निश्चय से **अग्नीषोमौ बिभ्रति**=अग्नि व सोमतत्त्वों को धारण करते हैं। सूर्य-किरणों के सम्पर्क से ये अग्नितत्त्व को धारण करते हैं और चन्द्र-किरणों के सम्पर्क से सोमतत्त्व को धारण करनेवाले

होते हैं। २. **मधुपृचाम्**-मधुर रस से संपृक्त जलों का **रसः** रस **तीव्रः**-रोगकृमियों के लिए अतितीक्ष्ण है। यह **अरंगमः**-पर्याप्त गमनवाला—कभी क्षीण न होनेवाला है। यह रस **प्राणेन**-प्राणशक्ति के साथ अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ (प्राणा वाव इन्द्रियाणि) तथा **वर्चसा सह**-वर्चस् (vitality) के साथ **मा आगमेत्** मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—जल कल्याणकर हैं। अग्निकुण्ड में आहुत घृत ही जल बन जाते हैं। इनमें अग्नि व सोमतत्त्वों का समावेश होता है। इनका तीव्र रस रोगकृमियों को नष्ट करता हुआ मुझे प्राण व वर्चस् प्राप्त कराए।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥

पश्यामि शृणोमि

आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ्मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब जलों का तीव्र रस प्राण व वर्चस् के साथ मुझे प्राप्त होता है, तब **आत् इत्**-इसके पश्चात् शीघ्र ही **पश्यामि**=मैं आँखों से ठीक देखने लगता हूँ, **उत वा** और निश्चय से **शृणोमि**-कानों से सुनने लगता हूँ। उस समय **आसाम्**-इन जलों के रसगमन से **मा**-मुझे **घोषः**-उच्चार्यमाण शब्द **आगच्छति**-प्राप्त होता है और **वाक्**-वागिन्द्रिय इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ भी **मा**-मुझे प्राप्त होती हैं। जलों के ठीक प्रयोग से सब ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ ठीक हो जाती हैं। २. हे **हिरण्यवर्णाः** हितरमणीय वर्णों से युक्त जलो! **यदा**=जब **वः**, **अतृपम्** तुम्हारे रस के सेवन से तृप्त होता हूँ **तर्हि**=तब **अमृतस्य भेजानः** 'अमृत का ही सेवन कर रहा हूँ' इसप्रकार **मन्ये**-मानता हूँ (तर्कयामि)।

भावार्थ—जलों के रस के सेवन से मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, बोलता हूँ और ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं अमृत का ही सेवन कर रहा हूँ—नीरोगता का अनुभव करता हूँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतावरी+शक्वरी

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः। इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

१. हे **आपः**-जलो! **इदं हृदयम्**-यह मेरा हृदय **वः**-आपका है। मैं हृदय में आपके महत्त्व को समझता हूँ। हे **ऋतावरीः**-सत्य व यज्ञ आदि ऋतोंवाले जलो, **अयम्** यह मैं **वत्सः** आपका प्रिय हूँ। जलों के महत्त्व को समझनेवाला यह पुरुष जल प्रिय बन जाता है। २. हे **शक्वरीः**-शक्ति देनेवाले जलो! **इह** यहाँ—हमारे शरीर में **इत्थम्**=इसप्रकार ही **एत**-प्राप्त होओ, अर्थात् शरीर में प्रविष्ट होकर तुम शक्ति देनेवाले होओ। **यत्र**-जहाँ शरीर में **इदम्** (इदानीम्) अब मैं **वः** आपको **वेशयामि** प्रवेश कराता हूँ, वहाँ आप शरीर में शक्ति देनेवाले होओ और मन में ऋत का स्थापन करो।

भावार्थ—ठीक प्रकार से विनियुक्त हुए-हुए जल हमारे शरीरों को शक्तिशाली बनाएँ और हृदयों को ऋत (सत्य व यज्ञ) से युक्त करें।

विशेष—अगले सूक्त का विषय 'गोष्ठ' है। गोष्ठवाला व्यक्ति ही 'ब्रह्मा' बनता है। ब्रह्मा बनने के लिए गोपालन आवश्यक है। गौओं का मानव जीवन के निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके दूध का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति, 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' बनता है। उन्नत होता हुआ यह 'ब्रह्मा' (great) बन जाता है। यही इस सूक्त का ऋषि है।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अहर्जात

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॑ सं र॒य्या सं सु॒भूत्या॑।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि॥ १॥

१. हे गौओ! हम **वः**-तुम्हें **सुषदा**=(सुखेन सीदन्ति अत्र) सुखपूर्वक निवासवाली **गोष्ठेन**=गोशाला से **संसृजामसि**=संसृष्ट करते हैं, **रय्या**-(रयि=water) उत्तम जलों से **सम्**=संसृष्ट करते हैं, **सुभूत्या**-उत्पन्न होनेवाले उत्तम पदार्थों से **सम्**-संसृष्ट करते हैं। (सूयवसात्.... पिब शुद्धमुदकम् । अथर्व० ७.७३.११) गौओं का निवास स्थान भी उत्तम (स्वच्छ) बनाते हैं, उत्तम घास (यवस्) खिलाते हैं, शुद्ध पानी पिलाते हैं। २. **अहर्जातस्य**=(अहनि अहनि जातं यस्मात्) प्रतिदिन जिसके द्वारा विकास होता है, उसका **यत् नाम**-जो नाम है **तेन**=उस नाम से **वः संसृजामसि**=तुम्हें संसृष्ट करते हैं, अर्थात् इन गौ के दूध से प्रतिदिन सब शक्तियों का विकास होता है, अतः यह गौ भी 'अहर्जात' है।

भावार्थ—गौओं का निवासस्थान भी साफ़-सुथरा हो, पानी भी शुद्ध हो, यवस् भी उत्तम हो। ऐसा होने पर ये गौएँ हमारे लिए 'अहर्जात' हो जाती हैं। इनके दुग्ध से प्रतिदिन सब शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अर्यमा, पूषा, बृहस्पति, इन्द्र'

सं वः॑ सृजत्वर्य॒मा सं पू॒षा सं बृह॒स्पतिः॑। समिन्द्रो॒ यो ध॑नंज॒यो मयि॑ पुष्यत॒ यद्वसु॑॥ २॥

१. हे गौओ! **अर्यमा**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाला **वः**-तुम्हें **संसृजतु**-अपने साथ संसृष्ट करे। गोदुग्ध के प्रयोग से सात्त्विक वृत्तिवाला बनकर यह काम, क्रोध आदि को वश में करनेवाला बनता है। **पूषा**=अपना पोषण करनेवाला **सम्**=इन गौओं को अपने साथ संसृष्ट करे। गोदुग्ध शरीर का उत्तम पोषण करनेवाला है। **बृहस्पतिः**-ज्ञानियों का भी ज्ञानी **सम्**=तुम्हें अपने साथ जोड़े। गोदुग्ध से सात्त्विक बुद्धि होती है। इसप्रकार यह गोदुग्ध हमें शरीर के दृष्टिकोण से 'पूषा', मन के दृष्टिकोण से 'अर्यमा' व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से बृहस्पति बनता है। २. **यः**-जो **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **धनञ्जयः**=धनों का विजय करनेवाला है वह **सम्**-इन गौओं को अपने साथ संसृष्ट करे, अर्थात् गोदुग्ध हमें 'धनञ्जय इन्द्र' बनने में सहायक होता है। हे गौओ! तुम **यत् वसु**=जो भी वसु है, निवास के लिए आवश्यक धन है, उसे **मयि पुष्यत**-मुझमें पोषित करो। गोदुग्ध मुझे सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—गोदुग्ध का प्रयोग हमें 'अर्यमा, पूषा, बृहस्पति व इन्द्र' बनाता है। यह हमारे जीवन में वसुओं का पोषण करता है। गौ को अर्थवेद ७.७३.८ में 'वसुपत्नी वसूनाम्' कहा गया है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अबिभ्युषीः अनमीवाः' गौएँ

सं॒ज॒ग्मा॒ना अबि॑भ्युषीर॒स्मिन्गो॒ष्ठे क॑री॒षिणीः॑। बिभ्र॑तीः सो॒म्यं मध्व॑नमी॒वा उ॒पेत॑न॥ ३॥

१. **अस्मिन् गोष्ठे संजगमानाः**-इस गोशाला में मिलकर रहती हुई अथवा वत्सों से संगत होती हुई **अबिभ्युषीः**=व्याघ्र आदि के आक्रमण के भय से रहित **करीषिणीः**=गोबर का उत्तम

खाद उत्पन्न करनेवाली गौएँ **उपेतन** हमारे पास आएँ। जिन गौओं को हिंस्रपशुओं का भय होता है, उनके दूध में कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं। २. हे गौओ ! तुम **अनमीवाः**-सब प्रकार के रोगों से रहित, अतएव **सोम्यं मधु बिभ्रतीः**-शान्त मधुररस—दूध को धारण करती हुई प्राप्त होओ।

भावार्थ—गौओं को किसी प्रकार का भय प्राप्त न हो। वे सब प्रकार के रोगों से रहित हों। ऐसी गौएँ शान्ति देनेवाला तथा मधुर रसवाला दूध प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समृद्ध होती हुई गौएँ हमारा पोषण करें

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत। इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः॥ ४॥

१. हे **गावः**-गौओ! **इह एव**-यहाँ ही **एतन**-आओ—हमारे गोष्ठ में तुम्हारी स्थिति हो। **इह उ**-और यहाँ ही **शका इव पुष्यत** समर्था गृहपत्नी के समान पोषण करनेवाली होओ **उत**-और इह **एव**-यहाँ और यहाँ ही **प्रजायध्वम्**-बच्चों (बछड़े बछड़ियों) से बढ़ो। **मयि**-मेरे विषय में **वः**-तुम्हारा **संज्ञानम्**-प्रेम **अस्तु**=हो।

भावार्थ—हमारे गोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होती हुई गौएँ हमारा पोपण करनेवाली हों। उन गौओं के साथ हमारा प्रेम हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिवः गोष्ठः

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि॥ ५॥

१. हे गौओ! **गोष्ठः** यह गोशाला **वः** तुम्हारे लिए **शिवः भवतु** कल्याणकर हो। इसमें स्थित हुई हुई तुम **शारिशाका इव**-शालिधान्य की शक्ति की भाँति **पुष्यत** हमारा पोषण करनेवाली होओ। जैसे यह धान्य हमारे रोगों को शीर्ण करता हुआ हमारी शक्ति का वर्धन करता है, उसी प्रकार ये गौएँ अपने दूध से हमारा पोषण करें। २. **उत** और हे गौओ! **इह एव**-यहाँ ही **प्रजायध्वम्** सन्तानों से वृद्धि को प्राप्त होओ। हम **मया**-अपने साथ **वः**-तुम्हें **संसृजामसि** संसृष्ट करते हैं।

भावार्थ—गौओं के लिए गोष्ठ सुखद हो। इस गोष्ठ में स्थित गौएँ शालिधान्य की शक्ति की भाँति हमें शक्ति प्राप्त करानेवाली हों। इन बढ़ती हुई गौओं का हमारे साथ सम्बन्ध हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥

गोपति के साथ गौओं का मेल

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥ ६॥

१. हे **गावः**-गौओ! **गोपतिना**-गौओं के रक्षक **मया**=मेरे साथ **सचध्वम्** तुम्हारा मेल हो **इह** इस घर में **अयं गोष्ठः**-यह गोष्ठ **वः, पोषयिष्णुः** तुम्हारा पोषक हो। २. **रायस्पोषेण** धन के पोषण से **बहुलाः** बहुत संख्यावाली **भवन्तीः**-होती हुई **जीवन्तीः**-जीवन शक्ति से युक्त **वः** तुम्हें **जीवाः**-जीवनशक्ति से युक्त हम **उपसदेम** समीपता से प्राप्त हों। जितना हमारा धन का पोषण हो उतना ही हम गौओं के बढ़ानेवाले हों। गौएँ ही हमें जीवनशक्ति प्राप्त कराएँगी।

भावार्थ—हमारे गोष्ठ में गौओं का पोषण हो और गौएँ हमारा पोषण करनेवाली हों।

विशेष—अगले सूक्त का विषय वाणिज्य है। इसका ऋषि 'अथर्वा' है, जो प्रलोभनवश डाँवाडोल नहीं हो जाता (न थर्वति)। यह धर्म के मार्ग से ही धन कमाता है। वह कामना करता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'महान् वणिक्' इन्द्र

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥ १ ॥

१. **अहम्**=मैं **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली **वणिजम्**=महान् वाणिज्यकर्ता प्रभु को (देहि मे ददामि ते०—यजुः०) **चोदयामि**=इस बात के लिए प्रेरित करता हूँ कि **सः**=वह **नः**=हमें **ऐतु**=प्राप्त हो और प्राप्त होकर हमारा **पुरः एता**=आगे चलनेवाला—पथ-प्रदर्शक हो। हम अपने सब व्यवहार प्रभु-स्मरणपूर्वक करें। २. **अरातिम्**=वाणिज्य-विघातक शत्रुओं को **परिपन्थिनम्**=मार्गनिरोधक चोरों को और **मृगम्** व्याघ्र आदि को भी **नुदन्**=हमारे मार्ग से दूर करते हुए ये **ईशानः**=नियन्ता ईश्वर **मह्यम्**=मेरे लिए **धनदाः**, **अस्तु**=वाणिज्यलाभरूप धनों के प्रदाता हों। ३. प्रभु सबसे बड़े वणिक् हैं। जैसा हम कर्म करते हैं, वैसा ही वे फल देते हैं—न कम, न अधिक। इस प्रभु का स्मरण हमें वाणिज्य में सफल करनेवाला हो। यदि हम प्रभु स्मरण करेंगे तो कुटिलता व छल-छिद्र से दूर रहेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरणपूर्वक व्यापार करें, प्रभु ही हमारे पथ-प्रदर्शक हों। हमारे मार्ग में 'अराति, परिपन्थी व मृग' विघातक न हों।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)** ॥ देवता—**पन्थानः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मार्गों में खान-पान की व्यवस्था का ठीक होना

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥ २ ॥

१. **ये**=जो **देवयानाः**=(दीव्यन्ति व्यवहरन्ति इति देवा वणिजः, ते यत्र यान्ति) व्यापारियों के आने-जाने के **बहवः पन्थानः**=बहुत-से मार्ग **द्यावापृथिवी अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **संचरन्ति**-(वर्तन्ते) हैं, **ते**=वे सब मार्ग **मा**=मुझे **घृतेन**=दूध-घृत आदि—जीवन यात्रा के लिए आवश्यक पदार्थों से **जुषन्ताम्**=सेवन करनेवाले हों। इन मार्गों में खान-पान की सब व्यवस्था बड़ी ठीक हो। २. **यथा**=जिससे मैं **क्रीत्वा**=क्रय विक्रय करके **धनम्**=लाभसहित मूलधन को **आहराणि**=अपने घर में लानेवाला बनूँ।

भावार्थ—व्यापार के लिए जिन मार्गों में आना जाना होता है, वहाँ खान-पान आदि की सुव्यवस्था हो, जिससे स्वस्थ रहकर हम ठीक से व्यापार कर सकें।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अग्निहोत्र व प्रभु-वन्दन' से व्यवहार में कुशलता

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इच्छमानः**=वाणिज्यलाभ की कामना करता हुआ मैं **इध्मेन**=इन्धनसाधन

समित् समूह से (समिधाओं से) **घृतेन** घृत के साथ **हव्यम्** हवि को **जुहोमि**-आहुत करता हूँ, जिससे मुझमें **तरसे**-वेग—शीघ्र-गमनशक्ति हो तथा **बलाय** शरीर का समार्थ्य बना रहे। २. **यावत्**-जितना जितना मैं **ईशे**-ईश व धन सम्पन्न बनता हूँ, उतना ही **ब्रह्मणा** स्तोत्ररूप मन्त्रों से **वन्दमानः**-आपका वन्दन करता हुआ **इमाम्**-इस **देवीम्** द्योतमान व्यवहार-कुशल **धियम्**-बुद्धि को **शतसेयाय**-असंख्यात धन लाभ के लिए करता हूँ। प्रभु-स्मरणपूर्वक मुझे वह व्यवहार कुशल बुद्धि प्राप्त होती है, जोकि मेरे लिए खूब लाभ का साधन बनती है।

भावार्थ—अग्निहोत्र से मैं शरीर में वेग व बल का सम्पादन करता हूँ। प्रभु वन्दन से बुद्धि को व्यवहार कुशल बनता हूँ, इसप्रकार खूब ही धन-लाभवाला होता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)** ॥ देवता—**प्रपणः विक्रयश्च** ॥ छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भा-विराडत्यष्टिः** ॥

प्रपणः विक्रयः च

इमाम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो नो॒ यमध्वा॑न॒मगा॑म दू॒रम्।
शु॒नं नो॑ अस्तु प्रप॒णो वि॒क्र॒यश्च॑ प्रतिप॒णः फ॒लिनं॑ मा कृणोतु।
इ॒दं ह॒व्यं सं॑विदा॒नौ जु॑षेथां शु॒नं नो॑ अस्तु चरि॒तमुत्थि॑तं च॥ ४॥

१. हे **अग्ने** परमात्मन्! **नः**-हमारी **इमम्** इस **शरणिम्** प्रवास के कारण होनेवाली व्रतलोपरूपी हिंसा को **मीमृषः** क्षमा (सहन) करो, चूँकि **यम् दूरं अध्वानम् अगाम**-जिन दूर मार्ग पर हम आये हुए हैं, मार्ग में सब सुविधा न होने से हम अग्निहोत्र के व्रत का पालन नहीं कर सके हैं, उसे आप क्षमा करेंगे। २. आपकी कृपा से **नः** हमारा **प्रपणः** क्रय **च**-और **विक्रयः** विक्रय **शुनं अस्तु**-सुखप्रद हो **प्रतिपणः**-वस्तुओं का लौट-फेर **मा** मुझे **फलिनं कृणोतु**-फलवाला करे। हे इन्द्र और अग्ने! **संविदानौ** आप ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए **इदं हव्यं जुषेथाम्**-इस हव्य का सेवन करें। **नः** हमारे **चरितम्**-सब व्यापार-व्यवहार **उत्थितं च** और उससे होनेवाला लाभ **शुनं अस्तु**-सुखदायक हो।

भावार्थ—मार्ग में घर से दूर होने पर कई बार अग्निहोत्र आदि व्रतों का लोप हो जाता है, उसे प्रभु क्षमा करेंगे। प्रभु के अनुग्रह से हमारा क्रय विक्रय सुखद हो। वस्तुओं का विनिमय लाभप्रद हो। व्यापार व व्यवहारजनित सब लाभ सुखकारी हों। इन्द्र और अग्नि की हमें अनुकूलता प्राप्त हो। प्रभु वन्दन व अग्निहोत्र से हमारा व्यापार सफल हो।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)** ॥ देवता—**देवाः, अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

भूयः, न तु कनीयः

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः।
तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒योऽग्ने॑ सात॒घ्नो दे॒वान्ह॒विषा॒ नि षे॑ध॥ ५॥

१. हे **देवाः** सब व्यवहारों के साधक देवो! **धनेन**-मूलधन से **धनम्** वृद्धियुक्त धन को **इच्छमानः**-चाहता हुआ मैं **येन धनेन्**-जिस धन से **प्रपणं चरामि**-क्रय करता हूँ **तत्**-वह **मे** मेरा धन **भूयः भवतु**-बहुतर हो जाए, बढ़ ही जाए, **कनीयः** अल्पतर **मा** मत हो जाए। २. **अग्ने** व्यापार में प्रगति प्राप्त करानेवाले प्रभो! **सातघ्नः**-लाभ के प्रतिबन्धक **देवान्**-(दीव्यन्ति) सट्टे आदि का व्यापार करनेवालों को **हविषा निषेध**-हवि के द्वारा हमसे दूर कर दें। त्यागपूर्वक अदन (खाने) की वृत्ति को (हवि को) प्राप्त करके हम इन द्यूत व्यापारों से दूर रहें।

भावार्थ—हम व्यापार में द्यूत आदि व्यवहारों से दूर रहते हुए अपने धनों का सदा वर्धन

करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**देवाः, इन्द्रः, प्राजपतिः, सविता, सोमः, अग्निः**॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रः, प्रजापतिः, सविता, सोमः, अग्निः

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः।
तस्मि॑न्म॒ इन्द्रो॒ रुचि॒मा द॑धातु प्र॒जाप॑तिः सवि॒ता सोमो॑ अ॒ग्निः॥ ६॥

१. **येन**-जिस **धनेन**-मूलधन से **प्रपणम् चरामि**-क्रय करता हूँ, हे **दवाः**-व्यवहारसाधक देवो! इस **धनेन**-धन से **धनम् इच्छमानः** वृद्धियुक्त धन को चाहता हुआ मैं ऐसा करता हूँ। २. **तस्मिन्**-उस व्यवहार में **इन्द्रः**-जितेन्द्रियता की देवता **मे**-मेरी **रुचिम्**=रुचि को **आदधातु**=धारण करे, जितेन्द्रिय बनकर मैं उस व्यापार को रुचि से करूँ। **प्रजापतिः**-प्रजा का रक्षक देव, अर्थात् प्रजा के—सन्तान के पालन की भावना मुझे उसमें रुचिवाला करे। इसीप्रकार **सविता**-निर्माण की भावना, **सोमः**-सौम्यता का भाव और **अग्निः**-प्रगति की भावना मुझे उसमें रुचिवाला करे। 'सोमः' शब्द सौम्यता का प्रतिपादन करता हुआ यह स्पष्ट कर रहा है कि एक व्यापारी को अवश्य सौम्य स्वभाव का बनना है, उग्र स्वभाव नहीं।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय, सन्तान के रक्षण की भावनावाला, निर्माता, सौम्य व प्रगतिवाला बनकर अपने व्यापार को रुचि से करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**वैश्वानरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमसा उपस्तुमः

उप॑ त्वा॒ नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तुमः। स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि॥ ७॥

१. हे **होतः**-सब पदार्थों के देनेवाले **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! **वयम्**-हम **त्वा**=आपको प्राप्त होकर **नमसा**=नमन के साथ **उपस्तुमः**-स्तुत करते हैं। प्रातः-सायं नम्रतापूर्वक आपकी स्तुति करते हैं। २. **सः**-वे आप **नः**-हमारी **प्रजासु**=प्रजाओं के विषय में **आत्मसु**-हमारे विषय में तथा **गोषु, प्राणेषु**-हमारी इन्द्रियों और प्राणों के विषय में **जागृहि**=सदा जाग्रत् रहिए। इनका रक्षण आपको ही तो करना है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं नम्रता से प्रभु का स्तवन करें, प्रभु ही हमारी सन्तानों व हमारा रक्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**जातवेदः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥

प्रभु के प्रतिवेश बनें

वि॒श्वाहा॑ ते॒ सद॒मिद्भ॑रे॒माश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते जातवेदः।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तो॒ मा ते॑ अग्ने॒ प्रति॑वेशा रिषाम॥ ८॥

१. **जातवेदः**-सर्वज्ञ (विद ज्ञाने) व सर्वव्यापक (विद सत्तायाम्) प्रभो! **अश्वाय इव**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त के समान **तिष्ठते**-स्थित **ते**-आपके लिए हम **विश्वाहा**-बस दिन, **सदम् इत्**-सदा ही **भरेम्**-हवि देनेवाले हों। हवि के द्वारा ही तो आपका पूजन होता है। २. हवि के द्वारा आपका पूजन करते हुए हम **रायस्पोषेण**-धन के पोषण से व **इषा**=सात्त्विक अन्न से **सम्मदन्तः**-सम्यक् आनन्द का अनुभव करते हुए हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **ते प्रतिवेशाः**-उपासना द्वारा आपके प्रत्यासन्न (निकटतम) बनें और **मा रिषाम्**-हिंसित न हों।

भावार्थ—उस 'जातवेदस्, अश्व, अग्नि' प्रभु का हवि के द्वारा पूजन करते हुए हम धन

के पोषण व उत्तम अन्न से आनन्दित हों। प्रभु के प्रत्यामन्त्र होते हुए हम कभी पतित न हों।

विशेष—प्रभु का प्रतिवेश बननेवाला यह उपासक 'अथर्वा' होता है, न डाँवाडोल तथा आत्मनिरीक्षक (न थर्वति, अथ अर्वाङ्)। यह कल्याण के लिए प्रभु से 'प्रातरग्निम्' इन मन्त्रों से प्रार्थना करता है—

अथ षष्ठः प्रपाठकः

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्नीन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्षीजगती** ॥

कैसा जीवन?

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे॥ १॥

१. जीवन के प्रभात में हम **अग्निम्**-अग्रणी प्रभु को **हवामहे**-पुकारते हैं, अपने अन्दर प्रगति की भावना को भरते हैं। **प्रातः**-प्रातःकाल में **इन्द्रम्**-जितेन्द्रियता की भावना को अपने में भरते हैं। सारी प्रगति जितेन्द्रियता पर ही निर्भर है। २. **प्रातः**-प्रातःकाल हम **मित्रावरुणा**-स्नेह व निर्द्वेषता की देवता को पुकारते हैं और **प्रातः**=इस प्रातःकाल में **अश्विना**-प्राणापान को पुकारते हैं। प्राण-साधना ही हमें द्वेष से दूर करके स्नेहवाला बनाती है। ३. **प्रातः**-प्रातःकाल हम **भगम्**-ऐश्वर्य की देवता को पुकारते हैं जो **पूषणम्**-हमारा पोषण करनेवाली है तथा **ब्रह्मणस्पतिम्**-ज्ञान का रक्षण करनेवाली है। ४. **प्रातः**-प्रातःकाल में हम **सोमम्**-सौम्यता व विनीतता के देवता को **हवामहे**-पुकारते हैं **उत**-और **रुद्रम् (हवामहे)**-रुद्र की अराधना करते हैं, शत्रुओं के लिए रुद्र बनते हैं।,

भावार्थ—हम प्रातःकाल जितेन्द्रियता, द्वेषशून्यता, स्नेहशीलता, सौम्य व रुद्र भावनाओं को अपने जीवन में धारण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कौन-सा धन?

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ २॥

१. हम **प्रातः**-प्रतिदिन प्रातःकाल **जितम्**-पुरुषार्थ से कमाये **भगम्**-धन को **हवामहे**-पुकारते हैं, जोकि **उग्रम्**-हमें तेजस्वी बनता है। **वयम्**-हम उस धन को चाहते हैं जोकि **पुत्रम्**-(पुनाति त्रायते) हमें पवित्र करता और हमारा रक्षण करता है और **यः**-जो **अदितेः**-(अ+दिति) स्वास्थ्य का **विधर्ता**-विशेषरूप से धारण करनेवाला है। २. हम उस धन को चाहते हैं **यम्**-जिसे **आध्रः चित्**-पोषण योग्य भी **भक्षि इति आह**-'मैं इसे खाता हूँ' ऐसा कहता है। इसके अतिरिक्त **मन्यमानः**-मनुष्यों के आदरणीय **तुरः**-बुराइयों के संहार में प्रवृत्त सुधारक पुरुष **चित्**-भी इस धन में भागी होता है और **राजाचित्**-कर रूप में राजा भी इसमें भाग ग्रहण करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धन व प्रशस्त जीवन

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥ ३॥

१. हे **भग**=सेवनीय धन! **प्रणेतः**-तू हमें प्रकर्षेण आगे ले-चलनेवाला है। **भग**=हे ऐश्वर्य की देवते! तू ही **सत्याराधः**=सत्य कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमारे लिए **ददत्**-सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता हुआ **इमां धियम्**-इस बुद्धि को **उत् अव**-उत्कृष्टरूप से रक्षित कर। २. हे **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमें **गोभिः**=गोओं व **अश्वैः**=घोड़ों से **प्रजनय**=प्रकृष्ट विकासवाला बना। हे **भग**=ऐश्वर्य! हम तेरे सद्व्यय से **नृभिः**=मनुष्यों से **नृवन्तः** प्रशस्त मनुष्योंवाले **प्रस्याम**=हों—हमारे सब पारिवारिक जन प्रशस्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—ऐश्वर्य की प्राप्ति से हम सर्वविध फूलें-फलें व समुन्नत हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भगः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥

'प्रातः, मध्याह्न व सायं' का भग

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ ४॥

१. हम **उत**-निश्चय से **इदानीम्** इस जीवन के प्रातःकाल में—प्रथम सवन (२४ वर्ष की अवस्था तक) में **भगवन्तः**-'ऐश्वर्य व धर्म' रूप भगवाले **स्याम**=हों, **उत**=और **अह्नां मध्ये**=जीवन के मध्यभाग—द्वितीय सवन (गृहस्थ) में यशयुक्त और श्री सम्पन्न बनें, **उत**=तथा **प्रपित्वे**=जीवन के ढलने पर तृतीय सवन (वानप्रस्थ और संन्यास) में हम 'ज्ञान-वैराग्य' रूप धनवाले हों। इसप्रकार जीवन को छह भगों से पूर्ण बनाकर **वयम्**=हम हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **उत**-निश्चय से **सूर्यस्य उदितौ**=सूर्य के उदय होते ही **देवानाम्**=माता-पिता आदि देवों की **सुमतौ** कल्याणकारी मति में **स्याम**-सदा निवास करें।

भावार्थ—हम जीवन के षड्विध ऐश्वर्य को प्राप्त करें और सदा देवों की सुमति में रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भगः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभुरूप धन

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेना वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह॥ ५॥

१. **देवाः**-हे देवा! आपकी कृपा से हम यह समझ लें कि **भगः एव**-एश्वर्य के पुञ्ज प्रभु ही भगवान् **अस्तु**=ऐश्वर्य हैं—प्रभु को ही अपना सच्चा ऐश्वर्य समझें। **तेन**-उस प्रभु से ही **वयम्**-हम **भगवन्तः**-ऐश्वर्यवाले **स्याम**=हों। २. हे **भग**=प्रभुरूप ऐश्वर्य! **तं त्वा**=उस आपको **इत्**-ही **सर्वः जोहवीमि** सब मनुष्य और मैं भी पुकारता हूँ। हे **भग**-ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभो! **सः**-वे आप **इह**-इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **पुरः एता**=पथ-प्रदर्शक **भव**=होओ।

भावार्थ—हम प्रभु को ही वास्तविक धन समझें, कष्टों में उसे ही पुकारें, वही हमारा पथ प्रदर्शक हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भगः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञ व ध्यान

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु॥ ६॥

१. **उषसः**=उषाकाल **अध्वराय**-यज्ञ के लिए **संनमन्त**=संगत हो, उसी प्रकार **इव**-जैसेकि **दधिक्रावा**-(दधत् क्रामति) धारण करते हुए गति करनेवाले प्रभु **शुचये पदाय**=हृदयरूप पवित्र स्थान के लिए संगत होते हैं, अर्थात् उषाकालों में ध्यान द्वारा हृदयों को पवित्र बनाते हुए प्रभु

दर्शन करें और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों। २. **वाजिनः**-शक्तिशाली घोड़े **इव**-जिस प्रकार **रथम्**-रथ को लक्ष्य पर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार **नः**-हमारे लिए **अश्वाः**-ये इन्द्रिय अश्व उस **भगम्**-ऐश्वर्य के पुञ्ज **वसुविदम्**-सब धनों को प्राप्त करानेवाले, **अर्वाचीनम्**-(अर्वाग् अञ्चति) हमारे हृदयों में गति करनेवाले प्रभु को **मे**-मुझे—हमें **आवहन्तु**-प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम उषाकाल में उठकर यज्ञ करें, प्रभु-उपासना से प्रभु-दर्शन करें। हमारी इन्द्रियाँ हमें प्रभु की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अश्वावतीः, गोमतीः वीरवतीः' उषासः

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ७॥

१. हे प्रभो! **नः**-हमारे लिए **अश्वावतीः**-प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली, **गोमतीः**-प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों वाली तथा **वीरवतीः**=प्रशस्त यज्ञाग्नियोंवाली (वीर-the sacrificial fire) **उषासः**-उषाएँ **सदम्** सदा **उच्छन्तु**-रात्रि के अन्धकार को दूर करनेवाली हों। ये उषाएँ **भद्राः**-हमारे लिए कल्याणकर हों। २. **घृतम्** ज्ञानदीप्ति को हमारे अन्दर **दुहानाः**=पूर्ण करती हुई तथा **विश्वतः**=सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हुई हुई ये उषाएँ हमारे लिए सचमुच कल्याण का कारण बनें। **यूयम्**-सब देवो! आप **स्वस्तिभिः**-कल्याण मार्गों के द्वारा **सदा**-सदा **नः**-हमें **पात**-सुरक्षित करो।

भावार्थ—उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम उत्तम कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंवाले बनें, यज्ञशील हों हमारा ज्ञान बढ़े और हम सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हों।

विशेष—अब यह उपासक सबका मित्र बनता है,'विश्वामित्र' नामवाला होता है। यह कृषि आदि उपकारी कार्यों में ही प्रवृत्त होता है-

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥

हल, जुआ, बैल

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

१. **कवयः**-मेधावी लोग **सीरा**-हलों को **युञ्जन्ति**-कर्षण के लिए जोड़ते हैं। **धीराः** धीमान् बुद्धिमान् ये लोग **युगा**-जुओं को **पृथक् वितन्वते**-बैलों के कन्धों पर फैलाते हैं। २. ये बुद्धिमान् कवि **देवेषु**-देवों के विषय में **सुम्नयौ**=(सुम्नं सुखकर हविर्लक्षणमन्नं यातः प्रापयतः) सुखकर अन्नों को प्राप्त करानेवाले बैलों को (युञ्जन्ति) जोतते हैं।

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष हलों को जोतते हैं, जुओं को बैलों के कन्धों पर डालते हैं, बैलों को जोतकर यज्ञार्थ अन्नों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सफल कृषि

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन्॥ २॥

१. हे कृषीवलो (किसानो)! **सीरा युनक्त**-हलों को युगों के साथ जोड़ो और **युगा वितनोत**-जुओं को बैलों के कन्धों पर फैलाओ तथा **योनौ**-अंकुरोत्पत्ति योग्य **इह**=इस **कृते**=कृष्टक्षेत्र

में **बीजम्**=जौ-चावल आदि के बीजों को **वपत**-बोओ। २. **विराजः**-(अन्नं वै विराट् तै० ३.८.१०.४) अन्न के **श्नुष्टिः**=(शु अश) आशु प्रापक गुच्छे **सभराः**-फलभार सहित **नः**=हमारे **असत्** होवें। **नेदीयः इत्**-(अन्तिकतमम्) अत्यल्प काल में **पक्वम्**=पके हुए फलों से युक्त जौ-चावल आदि को **सृण्यः** लवणसाधन हँसुवे या दराँत आदि **आयवन्**-प्राप्त हों।

भावार्थ—हल जोतकर भूमि को ठीक करके हम बीज बोएँ। यह शीघ्र ही अंकुरित होकर पक्व गुच्छे का रूप धारण करे और दराँती से काटा जाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**सीता**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

उत्तम भूमि+उत्तम वाहन

लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु।
उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्यं म्॥ ३॥

१. **लाङ्गलम्**-हल **पवीरवत्**=(लाङ्गले प्रोतं लोहमयं शल्यम्) अच्छे फालवाला **सुशीमम्**= उत्तम सुख देनेवाला **सोमसत्सरु**=(स उम, वे+मन्) रस्सी आदि और उत्तम मूठ से युक्त है। २. यह हल **इत्**-निश्चय से **गाम्**-इस पृथिवी को **अविम्**=रक्षा करनेवाली **च**=तथा **पीबरीम्**=अन्न आदि के द्वारा वृद्धिवाली **उद्वपतु**=बनाये तथा **इत्**=निश्चय से **रथवाहनम्**=रथों को वहन करनेवाले अश्व व बैल आदि को **प्रस्थावत्**-गमनसमर्थ तथा **प्रफर्व्यम्**=प्रकर्षेण गतिशील (उद्वपतु) सम्पादित करे। खेती ठीक होने पर ये सब वस्तुएँ भी अच्छी हो सकेंगी।

भावार्थ—हल उत्तम फाल, रस्सी व मूठ से युक्त हुआ हुआ पृथिवी से उत्तम अन्न को प्राप्त करानेवाला हो और हमें समृद्ध करके उत्तम रथों को वहन करनेवाले अश्व आदि को प्राप्त कराए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**सीता**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पयस्वती सीता

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ४॥

१. **इन्द्रः**-(इरां दृणाति-निरु० १०.८) हल के द्वारा पृथिवी का विदारण करनेवाला यह कृषक **सीताम्**-लाङ्गलपद्धिति को **निगृह्णातु**=(नीचीनं गृह्णातु) अधिक-से-अधिक नीचे तक ग्रहण करे। **तम्**=उस लाङ्गलपद्धति को **पूषा**-अन्न आदि के द्वारा सबका पोषण करनेवाला यह किसान **अभिरक्षतु**=रक्षित करे। २. **सा**=वह लाङ्गलपद्धति **पयस्वती**=जलवाली होती हुई **नः**=हमारे लिए **उत्तराम् उत्तराम् समाम्**-अगले-अगले वर्षों में **दुहाम्**-जौ-चावल आदि अन्नों का दोहन करनेवाली हो।

भावार्थ—हल कुछ गहराई तक भूमि को खोदनेवाला हो। हल-जनित सीताएँ ठीक से सुरक्षित हों। ये पानी से सींची जाकर अन्नों को उत्पन्न करनेवाली हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**सीता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सुपिप्पला ओषधिः

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै॥ ५॥

१. **सुफाला**-शोभन लाङ्गलमुख (फाल) **भूमिम्**=भूमि को **शुनम्**-सुखकररूप में **वितुदन्तु**-कृष्ट करें—जोतें। **कीनाशाः**=किसान **शुनम्**=सुखपूर्वक **वाहान् अनुयन्तु**-बैलों के पीछे चलें।

२. **शुनासीरा** (शुनो वायुः, सीर आदित्य—नि० ९.४०) वायु और सूर्य **हविषा**-अग्निहोत्र में आहुत हव्य पदार्थों से **तोशमाना**-(तोश to kill) सब कृमियों का नाश करते हुए **अस्मै**-इस कृषक के लिए **ओषधीः**-जौ-चावल आदि अन्नों को **सुपिप्पलाः कर्तम्** शोभन फलोंवाला करें।

भावार्थ—कृषि के लिए उत्तम फालोंवाले हल हों, उत्तम बैल हों, किसान समझदार हों, अग्निहोत्र द्वारा सूर्य व वायु कृमिनाशक हों। इसप्रकार सब ओषधियाँ उत्तम फलों से युक्त हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुखकर कृषिकर्म

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ ६॥

१. **वाहाः**-बलीवर्द (बैल) **शुनम्**-सुख से (कृषन्तु) हलों को खैंचें **नरः** कृषि करनेवाले मनुष्य **शुनम्**-सुख से कृषि करें। **लाङ्गलम्** हल **शुनम्**-उत्तम प्रकार से **कृषतु**-भूमि को कृष्ट करे—जोते। **वरत्राः**-रस्सियाँ **शुनम्**-सुखपूर्वक **बध्यन्ताम्**-बाँधी जाएँ। **अष्ट्राम्** प्रतोद (चाबुक, साँटे) को **शुनम्**-सुख के लिए **उदिङ्गय**-प्रेरित कर—क्रूरता से इसका प्रयोग मत कर।

भावार्थ—सारा कृषि-कार्य सुखपूर्वक हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**विराट्पुरउष्णिक्** ॥

शुनासीरा (वायु और सूर्य)

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ ७॥

१. **शुनासीरा**-वायु और सूर्य **इह स्म**-यहाँ ही **मे**=मेरे द्वारा दी जानेवाली हवि को **जुषेथाम्**-प्रेमपूर्वक सेवन करें, अर्थात् मेरा यह यज्ञ वायु व सूर्यदेव के लिए प्रीतिकर हो। **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'** इन यज्ञों के द्वारा बादलों की उत्पति हो। २.वायु व सूर्य इन बादलों के द्वारा **यत्**-जो **दिवि**-द्युलोक में **पयः चक्रथुः**-जल को उत्पन्न करते हैं **तेन** उस वृष्टिजल से **इमाम्**=इस भूमि को **उपसिञ्चतम्** सींचें।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा उत्पन्न बादलों से वायु व सूर्य जल का वर्षण करके पृथिवी को सींचनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

सु मनाः सु फला

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव। यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः॥ ८॥

१. हे **सीते** लाङ्गलपद्धति—जुती हुई भूमे! हम **त्वा वन्दामहे**=तेरा स्तवन करते हैं। हे **सुभगे**-उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाली सीते! तू **अर्वाची भव**-हमारे अभिमुख हो। २. इस प्रकार तू हमारे अभिमुख हो **यथा** जिससे **नः** हमारे लिए **सुमनाः**-उत्तम मन को प्राप्त करानेवाली **असः**-हो और **यथा**-जिससे **नः**-हमारे लिए **सुफला**-उत्तम फलों को देनेवाली **भुवः** हो।

भावार्थ—लाङ्गपद्धति हमारे लिए उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त कराती हुई हमें उत्तम (प्रसन्न) मनवाला करे और उत्तम फलों को प्रदान करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'घृतेन+मधुना' समक्ता

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना॥ ९॥

१. **सीता**=यह लाङ्गलपद्धति **घृतेन**=जल से तथा **मधुना**=शहद से **समक्ता**=सम्यक् सिक्त हुई है। यह **विश्वैः देवैः**=सूर्यादि सब देवों से तथा **मरुद्भिः**=वृष्टिवाहक वायुओं से **अनुमता**=अङ्गीकृत हुई है—वे सब इसके अनुकूल हैं। २. हे **सीते**=लाङ्गलपद्धते! **सा**=वह तू **पयसा**=उदक (जल) से सींची हुई **नः अभि आववृत्स्व**=हमारे अभिमुख—अनुकूल हो। तू **ऊर्जस्वती**=बल से युक्त हो तथा **घृतवत्**=घृतयुक्त अन्न को **पिन्वमाना**=हमारे लिए सिक्त करनेवाली हो।

भावार्थ—घृत व मधु से सिक्त हुई-हुई भूमि सूर्य-वायु आदि की अनुकूलता होने पर हमें बल व प्राणशक्ति प्राप्त कराए और घृतवत् अन्न देनेवाली हो।

विशेष—गत सूक्त के अनुसार वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करनेवाला यह व्यक्ति भोगवृतिवाला न बनकर योगवृतिवाला बनता है—'अ-थर्वा' कहलाता है (न थर्वति चरति)—डाँवाडोल नहीं होता। यह अथर्वा जितेन्द्रिय है। इसकी पत्नी इन्द्राणी है। यदि अथर्वा भोगवृत्ति को अपनाये तो यह भोगवृत्ति इन्द्राणी की सपत्नी (सौत) हो जाती है। इन्द्राणी इस सपत्नी के दुःख को सहने को उद्यत नहीं। वह उसके विनाश के लिए आत्मविद्या (योगविद्या)-रूप ओषधि को आचार्य से प्राप्त करने के लिए यत्नशील होती है। आत्मविद्या इन्द्राणी की सपत्नी का विनाश करती है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आत्मविद्यारूप ओषधि

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥ १ ॥

१. **इमाम्**=इस **ओषधिम्**=दोषों का दहन करनेवाली आत्मविद्या को **खनामि**=अत्यन्त श्रम के द्वारा आचार्य से प्राप्त करता हूँ। यह ओषधि **वीरुधाम्** वीरुधा है—विशेषरूप से मेरा रोहण (विकास) करनेवाली है, **बलवत्तमाम्**=मुझे अतिशयित बल प्राप्त करानेवाली है, अथवा यह अन्य ओषधियों से बलवत्तमा है—सर्वाधिक बलवाली है। २. यह आत्मविद्या वह है **यया**=जिससे **सपत्नीम्** इन्द्राणी की सपत्नीरूप भोगवृत्ति को **बाधते**=दूर रोका जाता है, **यया**=जिसके द्वारा **पतिं संविन्दते**=सर्वरक्षक पतिरूप प्रभु को प्राप्त किया जाता है। आत्मविद्या द्वारा भोगवृत्ति के विनष्ट होने पर हम परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम आचार्य से आत्मविद्या को प्राप्त करके भोगवृत्ति को अपने से दूर करें तभी हम योगवृत्ति को अपनाकर प्रभुरूप पति को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तानपर्णा-सहस्वती

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि॥ २ ॥

१. आत्मविद्या 'अत्तानपर्णा' है—ऊर्ध्वमुख पर्णोंवाली है—हमें सदा उन्नति की ओर ले-चलनेवाली तथा हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। 'सुभगा'—उत्तम ज्ञान व अनासक्ति को उत्पन्न करनेवाली है (भगः=ज्ञान, वैराग्य)। यह 'देवजूता' है—विद्वानों द्वारा हममें प्रेरित होती है। यह आत्मविद्या 'सहस्वती'—काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल देनेवाले बल को उत्पन्न करती है। हे **उत्तानपर्णे, सुभगे, देवजूते, सहस्वति**=आत्मविद्ये! तू **मे**=मेरे अन्दर रहनेवाली

इस **सपत्नीं** इन्द्राणी की सपत्नीभूत भोगवृत्ति को **परानुद**-दूर कर दे २. एवं, आत्मविद्या के द्वारा भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ पुरुष यही प्रार्थना करता है कि उस **के-वलम्**-आनन्द में विचरनेवाले **पतिम्** सर्वरक्षक प्रभु को मे **कृधि**-मेरा कर। मैं प्रभु-प्राप्ति की ही कामनावाला बनूँ।

भावार्थ—आत्मविद्या हमें उन्नत करती है, हममें शत्रुओं का मर्षक बल पैदा करती है और हमें प्रभु में रमणवाला बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नहि ते नाम जग्राह

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ। परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि॥ ३॥

१. आत्मविद्या को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **ते नाम नहि जग्राह**-तेरा नाम नहीं लेता—यह भोगवृत्ति को अपने पास फटकने भी नहीं देता। हे भोगवृत्ते! तू **अस्मिन्**-इस **पतौ**-इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय पुरुष में **नो रमसे** रमण नहीं करती। अब तू इस इन्द्र की प्रिय नहीं है। २. **सपत्नीम्**=इस इन्द्राणी की सपत्नी भोगवृत्ति को, जोकि **पराम्**-परायी है—शत्रुभूत है—उसे **परावतम् एव**=दूर ही **गमयामसि**-भेजते हैं। इस भोगवृत्ति को मैं अपने पास नहीं फटकने देता।

भावार्थ—आत्मविद्या को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति भोगवृत्ति में रमण नहीं करता, उसे अपने समीप भी नहीं फटकने देता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भाचतुष्पादुष्णिक्** ॥

उत्तराभ्यः उत्तरा=इन्द्राणी, अधराभ्यः अधरा=भोगवृत्ति

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः॥ ४॥

१. हे **उत्तरे**-उत्कृष्ट आत्मविद्ये! तुझे प्राप्त करके **अहम्, उत्तरा**-मैं भी उत्कृष्ट जीवनवाली बनती हूँ। मैं **इत्** निश्चय से **उत्तराभ्यः उत्तरा**-उत्कृष्टकतरों से भी उत्कृष्टतर होती हूँ। वस्तुतः आत्मविद्या के प्राप्त होने पर जीवन में किसी प्रकार की अवनति स्थान नहीं पाती। जीवन अधिकाधिक उत्कृष्ट बनता जाता है। ३. इन्द्राणी कहती है कि **अधः** इस आत्मविद्या के परिणामस्वरूप **या मम**-जो यह मेरी **सपत्नी**=भोगवृत्तिरूपी सपत्नी है, **सा**-वह **अधराभ्यः अधरा**-निकृष्ट स्थितिवालों से भी निकृष्टतर स्थितिवाली हो जाती है। वह तो पाँव तले रौंद डाली जाती है। भोगवृत्ति को कुचलकर मैं योगवृत्ति में शरण लेती हूँ।

भावार्थ—आत्मविद्या प्राप्त करके 'इन्द्राणी' की उत्कृष्टतम स्थिति होती है और 'भोगवृत्ति' की निकृष्टतम, भोगवृत्ति तो कुचल दी जाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उभे सहस्वती भूत्वा

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै॥ ५॥

१. 'इन्द्राणी' आत्मविद्या को सम्बोधित करती हुई कहती है कि **अहम्** मैं **सहमाना अस्मि** शत्रुओं का पराभव करनेवाली हूँ। **अथ उ**=और अब **त्वम्**-तू भी **सासहिः**=शत्रुओं का खूब ही पराभव करनेवाली **असि**-है। २. **उभे**-हम दोनों **सहस्वती**-शत्रुओं का मर्षण करने (कुचल डालने) वाले बल से युक्त **भूत्वा**-होकर **मे**-मेरी **सपत्नीम्** सौतरूप इस भोगवृत्ति को **सहावहै**-मसल डालते हैं। इसे समाप्त करके ही वास्तविक आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—इन्द्राणी व आत्मविद्या दोनों मिलकर भोगवृत्ति का पराभव कर डालें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भापथ्यापङ्क्तिः** ॥

वत्सं गौ इव

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम्।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु॥ ६॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **ते**=तेरे लिए इस **सहमानाम्**-शत्रुओं का पराभव करनेवाली ब्रह्मविद्या (आत्मविद्या) को **अभि अधाम्**-धारण करता हूँ। इस **सहीयसीम्**-शत्रुओं का खूब ही पराभव करनेवाली ब्रह्मविद्या को **ते अप अधाम्**=तेरे समीप स्थापित करता हूँ। २. इस आत्मविद्या द्वारा शत्रुओं का पराभव होने पर **माम् अनु**=मेरे पीछे—मेरा लक्ष्य करके **ते मनः**=तेरा मन इसप्रकार **प्रधावतु**=दौड़े, **इव**-जैसेकि **वत्सं गौः**-बछड़े का लक्ष्य करके गौ जाती है, अथवा **इव**=जैसे **पथा**-निम्नमार्ग से **वाः**=जल **धावतु**=दौड़ता है। जल स्वभावतः निम्न मार्ग से जाता है, उसी प्रकार हमारा मन स्वभावतः प्रभु की ओर जानेवाला हो।

भावार्थ—आत्मविद्या प्राप्त करके हम शत्रुओं को कुचल डालें और हमारा मन प्रभु की ओर गतिवाला हो, उसी प्रकार प्रभु की ओर गतिवाला हो, जैसे गौ बछड़े की ओर गतिवाली होती है।

विशेष—आत्मविद्या द्वारा शत्रुओं को पराभूत करके यह व्यक्ति 'वशिष्ठ' बनता है, वशियों में श्रेष्ठ(वशिष्ठ) अथवा सर्वोतम निवासवाला (वस् निवासे)। यह प्रार्थना करता है कि—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

पुरोहित की राष्ट्र के लिए प्रार्थना

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥ १॥

१. **मे**=मेरा **इदं ब्रह्म**-यह ज्ञान **संशितम्**-सम्यक् तीक्ष्णता को प्राप्त हो—तेजस्वी हो। **वीर्यम्**=मेरा वीर्य व **बलम्**-प्राणमय व मनोमयकोश की शक्ति **संशितम्**-तीक्ष्ण हो—बड़ी तेजस्वी हो। २. **येषाम्**=जिनका मैं **जिष्णुः**=जयशील पुरोहित हूँ, उनकी **क्षत्रम्**=क्षतों से रक्षण की शक्ति क्षात्रबल **संशितम्**=तीक्ष्ण हो और **अजरम्, अस्तु**-कभी जीर्ण होनेवाला न हो।

भावार्थ—राष्ट्रीय पुरोहित की प्रार्थना होती है कि मेरा ज्ञान व बल खूब तेजस्वी हो। जिनका मैं पुरोहित हूँ उनका क्षात्रबल भी तेजस्वी और न जीर्ण होनेवाला हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्यागवृत्ति द्वारा शत्रुभुज-छेदन

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ २॥

१. **अहम्**-मैं **एषाम्**-इनके **राष्ट्रम्**-राष्ट्र को **संस्यामी**=सम्यक् तीक्ष्ण करता हूँ। **ओजः**=इनके ओज को—मानस बल को **सम् (स्यामि)**=तीक्ष्ण करता हूँ और **वीर्यम्**=इनके प्राणमयकोश को वीर्यवान् बनता हूँ, **बलम्**=इनकी शत्रुनाशक शक्ति को भी तीक्ष्ण करता हूँ। २. **अनेन हविषा**-इस हवि के द्वारा—देकर बचे हुए को खाने की वृत्ति के द्वारा—त्याग के द्वारा **अहम्**=मैं **शत्रूणां बाहून्**=शत्रुओं की बाहुओं को **वृश्चामि**=काट डालता हूँ। वस्तुतः जब राष्ट्र में त्याग की वृत्ति

आ जाती है तब राष्ट्रीय शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि राष्ट्र के शत्रु छिन्न-भुज हो जाते हैं, हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करने का उसका साहस जाता रहता है।

भावार्थ—पुरोहित को राष्ट्र को तेजस्वी बनाना है, राष्ट्र की शक्ति का वर्धन करना है, प्रजा में राष्ट्र के लिए त्याग की भावना पैदा करके शत्रुओं को छिन्न भुज-सा कर डालना है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

ज्ञान-प्रसार द्वारा राष्ट्र-शक्ति-वर्धन

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥ ३॥

१. **ये**=जो भी शत्रु **नः** हमारे **सूरिम्** ज्ञानी **मघवानम्** ऐश्वर्यशाली राजा पर **पृतन्यान्**-सेना से आक्रमण करें वे **नीचैः पद्यन्ताम्** नीचे गिरें, **अधरे भवन्तु**=और हीन अवस्था में हों—पाँवें तले रौंदे जाएँ। २. **अहम्**-मैं **ब्रह्मणा**-ज्ञान के द्वारा **अमित्रान्** शत्रुओं को **क्षिणामि**-क्षीण करता हूँ और **स्वान्**=अपनों को **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ।

भावार्थ—राष्ट्र में ज्ञान के प्रसार के द्वारा सारे राष्ट्र की शक्ति का वर्धन हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परशु, अग्नि व वज्र से भी तीव्र

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥ ४॥

१. पुरोहित राष्ट्र-सैनिकों में आत्मबल का उद्बोधन करते हुए कहता है कि **येषाम्**-जिनका **पुरोहितः अस्मि** मैं पुरोहित हूँ, वे **परशोः तीक्ष्णीयांसः** कुल्हाड़े से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। कुल्हाड़ा शत्रुओं का इतना छेदन नहीं कर सकता, जितना कि ये आत्मबल सम्पन्न वीर कर पाते हैं, **उत**-और ये वीर तो **अग्नेः तीक्ष्णतराः**-अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। अग्नि ने क्या विध्वंस करना, जो विध्वंस ये वीर कर सकते हैं। २. ये सैनिक तो **इन्द्रस्य वज्रात्** इन्द्र के वज्र से भी—प्रभु के द्वारा मेघों से गिरायी जानेवाली विद्युत् से भी **तीक्ष्णीयांसः**=अधिक तीक्ष्ण हैं।

भावार्थ—कुल्हाड़ों, अग्नि व विद्युत् ने भी शत्रुओं का वैसा छेदन क्या करना, जैसाकि राष्ट्र के आत्मबल-सम्पन्न वीर कर पाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

राष्ट्र के वीरों में उत्साह का सञ्चार

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥ ५॥

१. **एषाम्**-इनके **आयुधा**=आयुधों को **अहम्**=मैं **संस्यामि**=तीक्ष्ण बनाता हूँ। **एषाम्** इनके **राष्ट्रम्**-राष्ट्र को **सुवीरम्**=उत्तम वीरोंवाला बनाता हुआ **वर्धयामि**-बढ़ाता हूँ। वस्तुतः पुरोहित को ही राष्ट्र में वीरता का सञ्चार करना होता है। २. **ऐषाम्**-इनका **क्षत्रम्**-राष्ट्र को क्षतों से बचानेवाला बल **अजरम् अस्तु**-कभी जीर्ण होनेवाला न हो। इनका यह बल **जिष्णु**-सदा विजयशील हो। **विश्वेदेवाः**=राष्ट्र के सब विद्वान् **एषां चित्तम् अवन्तु** इनके चित्त का रक्षण करें—इनके चित्तों में उत्साह की कमी न आने दें।

भावार्थ—पुरोहित का कर्त्तव्य है कि राष्ट्ररक्षक वीर क्षत्रियों में विद्वानों के द्वारा सदा उत्साह

का सञ्चार कराता रहे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुप्ककुम्मतीगर्भाऽतिजगती** ॥

वीरों का विजयघोष

उद्धर्षन्तां मघवन्वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया॥ ६॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **वीराणाम्**=इन वीरों के **वाजिनान्**=बल **उद्धर्षन्ताम्**=विकसित हों—हर्ष को प्राप्त हों—फूल उठें, **जयताम्**=विजय को प्राप्त करते हुए इन वीरों का **घोषः**=जयघोष **उदेतु**=उदित हो। २. **पृथक्**=अलग-अलग सेना की प्रत्येक टुकड़ी के **उलुलयः**=(उल दाहे, उलां उलयः) सन्तापकों के भी सन्तापक **केतुमन्तः**=विजय पाताकाओंवाले **घोषाः**=विजयघोष **उदीरताम्**=आकाश में उदित हों। हमारे वीरों के विजय घोषों को सुनकर शत्रुसैन्य मनों में सन्तप्त हो उठे। **देवाः**=विजय की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्) **इन्द्रजेष्ठाः**=शत्रुओं का विद्रावक राजा जिनका प्रधान है, ऐसे **मरुतः**=सेनानी **सेनया**=सेना के साथ **यन्तु**=शत्रुसैन्य पर आक्रमण के लिए गतिवाले हों।

भावार्थ—हमारे सैनिकों के बल का विकास हो। वीरों के विजय-घोष आकाश में सर्वत्र उदित हों। विजयपताकाओं को फहराते हुए वीर शत्रुओं को सन्तप्त करें। राजा व सेनापतियों के साथ सेनाएँ आगे बढ़ें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

विजय

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः॥ ७॥

१. हे **नरः**=आगे बढ़नेवाले वीरो! **प्र-इत**=खूब आगे बढो, **जयत**=विजयी बनो। **वः**=तुम्हारी **बाहवः** भुजाएँ **उग्राः सन्तु**=बड़ी तेजस्वी हों। २. **तीक्ष्ण-इषवः**=तीक्ष्ण बाणोंवाले, **उग्रायुधाः**=तेजस्वी शस्त्रोंवाले व **उग्रबाहवः**=तेजस्वी भुजाओंवाले तुम इन **अबलधन्वनः**=निर्बल धनुषोंवाले **अबलान्**=निर्बल शत्रुओं को **हत**=विनष्ट कर डालो।

भावार्थ—हमारे वीर आगे बढ़ें। इनकी भुजाएँ शत्रुओं के लिए भयंकर हों। तेजस्वी अस्त्रोंवाले होते हुए हमारे वीर इन निर्बल से शत्रुओं को परास्त कर डालें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

शत्रु के चुने हुए वीरों का विनाश

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
जयामित्रान्प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन॥ ८॥

१. हे **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान के द्वारा तीव्र किये गये **शरव्ये**=हिंसा-कुशल इषो (बाण)! तू **अवसृष्टा**=धनुष से छोड़ा हुआ **परापत**=दूर जाकर शत्रुओं पर पड़, शस्त्र को विचारपूर्वक शत्रुओं पर फेंका जाए। २. शरव्ये! तू **जय**=विजय करनेवाली हो। तू **अमित्रान् प्रपद्यस्व**=शत्रुओं पर विशेषरूप से गिर। **एषाम्**=इनके **वरं वरम्**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ सैनिकों को—चुने हुए वीरों को **जहि**=समाप्त कर दे। **अमीषाम्**=इनमें **कश्चन**=कोई भी **मा मोचि**=छूट न जाए।

भावार्थ—हम समझदारी से अस्त्रवर्षा करके शत्रु के चुने हुए वीरों का विध्वंस कर दें। इनमें से कोई बच न पाये। मुख्य सैनिकों के विनाश से सामान्य सैनिकों का विनाश अनावश्यक हो जाता है।

विशेष—विजयी राष्ट्र में तेजस्विता व अभ्युदय की वृद्धि होती है। लोग उत्तम वसुओंवाले, उत्तम निवासवाले 'वसिष्ठ' बनते हैं। यही सूक्त का ऋषि है—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयं ते योनिः

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम्॥ १॥

१. उपासक प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है कि **अयम्**-यह मैं **ते** आपका **ऋत्वियः** प्रत्येक ऋतु में होनेवाला **योनिः** गृह व उत्पत्ति-स्थान हूँ। मैं सदा आपके स्मरण का प्रयत्न करता हूँ। **यतः**=जिससे **जातः**-प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**-दीप्त हो उठते हो। मैं हृदय में आपके प्रकाश को देखता हूँ। २. **तम्**=उस मुझे **जानन्**-जानते हुए—मेरा ध्यान (देख भाल) करते हुए **अग्ने** हे प्रभो! आप **आरोह**-मेरे हृदय में प्रादुर्भूत होओ (रुह प्रादुर्भावे) **अध**-और **नः**=हमारे **रयिम्**=ऐश्वर्य को **वर्धय**=बढ़ाइए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, उसके प्रकाश को हृदय में देखें, वे हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुमनाः, धनदाः

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम्॥ २॥

१. हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **इह**=यहाँ—इस हृदयदेश में **नः** हमारे लिए **अच्छा वद**=आभिमुख्येन प्रिय उपदेश दीजिए। **प्रत्यङ्**=अभिमुख प्राप्त होते हुए आप **नः**-हमारे लिए **सुमनाः** उत्तम मनवाले **भव** होओ। हमें उत्तम मन प्राप्त कराओ। २. हे **विशांपते**-वैश्वानररूपेण सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **नः प्रयच्छ**-आप हमारे लिए दीजिए, **त्वम्**-आप ही तो **नः**-हमारे लिए **धनदाः असि**-सब धनों के दाता हैं—आप ही को हमारे लिए आवश्यक धन देने हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रेरणा दें, हमें उत्तम मन प्राप्त कराएँ और हमारे लिए आवश्यक धन प्रदान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अर्यमा, भगः, बृहस्पतिः, देवीः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूनृता देवी

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे॥ ३॥

१. **नः**-हमारे लिए **अर्यमा**-'अरीन् यच्छति' शत्रुओं के नियमन की देवता **प्रयच्छतु** शत्रुनियमन की शक्ति दे। **भगः** ज्ञान व ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **प्र (यच्छतु)** हमें ज्ञान व ऐश्वर्य का देनेवाला हो, **बृहस्पतिः**=महान् लोकों का अधिष्ठातृदेव प्रभु हमारे लिए **प्र**-इन महान् लोकों के अधिष्ठातृत्व को प्राप्त कराए। हम शरीररूप पृथिवीलोक तथा मस्तिष्करूप द्युलोक के स्वामी हों। **देवीः** सब

देव पत्नियाँ **प्र**=हमें दिव्य भावों को देनेवाली हों। २. **उत**-और **सूनृता देवी**-शोभन (सु), दुःख हारिणी (ऊन्) सत्यवाणी प्रकाशमयी (देवी) होती हुई **मे**-मेरे लिए **रयिम् प्र दधातु**=उत्तम ऐश्वर्य का धारण करे। मैं उत्तम, दुःखहारिणी, ऋतवाणी बोलता हुआ ऐश्वर्य सम्पन्न बनूँ।

भावार्थ—हम शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें, भजनीय धनों को प्राप्त करें, शरीर व मस्तिष्क के स्वामी हों, दिव्य भावों को धारण करते हुए प्रिय, सत्य वाणी को ही सदा बोलनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सोमः, अग्निः, आदित्यः, विष्णुः, ब्रह्मा, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोम से बृहस्पति तक

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥ ४॥

१. इस जीवन-यात्रा में हम **अवसे**=अपनी रक्षा के लिए **सोमम्** सोम को तथा **राजानम्**=अपने पर शासन करने की वृत्ति को—अपने जीवन को व्यवस्थित (regulated) करने की वृत्ति को **हवामहे**=पुकारते हैं। सोम को पुकारने का भाव है 'शरीर में शक्ति को रक्षित करना'। सब उन्नतियों का मूल यही है कि हम शरीर में सोम का रक्षण करें। इसके लिए जीवन को बड़ा व्यवस्थित करें। ब्रह्मचर्याश्रम का मूलसूत्र यही है। अब गृहस्थ में **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों के द्वारा **अग्निम्**-अग्रणी प्रभु को पुकारते हैं 'निरन्तर आगे बढ़ना' इसी को जीवन का नियम बनाते हैं। इसी उद्देश्य से **आदित्यम्**-अन्धकार को छिन्न करनेवाले प्रकाशमय प्रभु को पुकारते हैं, स्वाध्याय के द्वारा जीवन को प्रकाशमय बनाये रखते हैं। ३. गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ में **विष्णुं सूर्यम्**-उस सर्वव्यापक, निरन्तर सरण करनेवाले प्रभु को पुकारते हुए हम हृदय को विशाल तथा जीवन को क्रियामय बनाने के लिए यत्नशील होते हैं (विष्णु व्याप्तौ, सृ गतौ)। ४. **च**-और अब संन्यस्त होकर हम **ब्रह्माणम्**-ब्रह्मा व **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारते हैं। ब्रह्मा वह है जिसमें सारा ब्रह्माण्ड प्रविष्ट है। मैं भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को जीवन का सूत्र बनाता हूँ और बृहस्पति की भाँति ज्ञान का प्रकाश करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करनेवाले व व्यवस्थित जीवनवाले बनें। हमारे जीवन का सूत्र आगे बढ़ना व स्वाध्याय द्वारा अन्धकार को छिन्न करना हो। हम विशाल हृदय व क्रियाशील हों और अन्त में सम्पूर्ण पृथिवी को अपने परिवार में प्रविष्ट कर सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्म+यज्ञ

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **अग्निभिः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियों के द्वारा (पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥) **ब्रह्म यज्ञं च**-ज्ञान और यज्ञ का **वर्धय**=वर्धन कीजिए। माता से उत्तम चरित्र को, पिता से उत्तम आचार (व्यवहार) को तथा आचार्य से उत्तम ज्ञान को प्राप्त करके हम ज्ञानेन्द्रियों से सदा ज्ञान का वर्धन करनेवाले बनें तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करनेवाले हों। २. हे **देव**=सब ऐश्वर्यों को देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **दातवे**=दानशील पुरुष के लिए **दानाय**=दान के लिए **रयिं चोदय**-धन को प्रेरित कीजिए। हम दानशील बनें और दान के लिए आपसे धनों को प्राप्त करें।

भावार्थ—उत्तम माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर हम ज्ञान व यज्ञ का वर्धन

करें। खूब दानशील हों, दान के लिए प्रभु धन देंगे ही।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

जितेन्द्रियता+क्रियाशीलता

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत्॥ ६॥

१. **इह**-इस जीवन में **सुहवा**-शोभन है पुकार (आराधना) जिनकी उन **उभौ**-दोनों **इन्द्रवायू** जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता को हम **हवामहे**-पुकारते हैं। हम क्रियाशील व जितेन्द्रिय बनते हैं। २. हम इसलिए इन्द्र और वायु का आराधन करते हैं कि **यथा**-जिससे **इह**-इस संसार में **नः**-हमारे **संगत्याम्**-संगमन में, मिलने के अवसर पर **सर्वः इत् जनः** सभी मनुष्य **सुमनाः असत्** उत्तम मनवाले हों—परस्पर मिलने पर सबको प्रीति का अनुभव हो **च**-और **नः**-हमारे ये लोग **दानकामः**-दान की कामनावाले, सदा धनों को देने की इच्छावाले **भुवत्**-हों।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें। परस्पर मिलने पर प्रीति का अनुभव करें और दान की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अर्यमा, बृहस्पतिः, इन्द्रः, वातः, विष्णुः, सरस्वती, सविता, वाजी** ॥
छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अर्यमा से सविता' तक

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम्॥ ७॥

१. हे प्रभो! **अर्यमणम्**-(अरीन् यच्छति) शत्रुओं के नियमन की देवता को, **बृहस्पतिम्**-ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता को, **इन्द्रम्** जितेन्द्रियता की देवता को **दानाय चोदय** दान के लिए प्रेरित कीजिए। हम भी अर्यमा, बृहस्पति व इन्द्र बन जाएँ। हम काम-क्रोध का नियमन करनेवाले हों, ज्ञान का सम्पादन करें व जितेन्द्रिय बनें। २. **वातम्**-(वा गतौ) क्रियाशीलता की देवता को, **विष्णुम्**-(विष् व्याप्तौ) व्यापकता की देवता को, **सरस्वतीम्** ज्ञान की देवता को **च**-और **वाजिनम्**-सब शक्तियों के अधिष्ठान **सवितारम्**-शक्तियों के जनक सूर्य को दान के लिए प्रेरित कीजिए। ये सब देव हमें भी क्रियाशील, उदार, ज्ञानी व शक्तिशाली बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम शत्रुओं को वश में करनेवाले, ज्ञानप्रधान जीवनवाले व जितेन्द्रिय बनें। हम क्रियाशील, उदार, ज्ञानी व शक्ति का संग्रह करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वानि भुवनानि** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

वाजस्य प्रसवे संबभूविम

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन्रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ॥ ८॥

१. **नु**-अब **वाजस्य**-उस शक्ति के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे** (षू प्रेरणे) प्रेरण में **संबभूविम** सम्यक् हों—सदा प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त हों **च**-और **इमा विश्वा भुवनानि** सूर्य आदि इन सब लोकों को **अन्तः**-अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करें। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जो कुछ पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में। ब्रह्माण्ड के सर्यू आदि देव चक्षु आदि के रूप में शरीर में रहते हैं। प्रभु की प्रेरणा में चलता हुआ पुरुष शरीर को देवस्थली के रूप में देखता है। यह शरीर उसकी दृष्टि में 'देवमन्दिर' हो जाता है। २. वे प्रभु **अदित्सन्तम् उत** न देने की इच्छावाले

को भी **प्रजानन्**=खूब समझते हुए—उचित प्रेरणा के द्वारा **दापयतु**=दान की वृत्तिवाला बनाएँ **च**=और हे प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम् रयिम्**=वीर सन्तानोंवाली सब सम्पति को **नियच्छ**=नियमितरूप से दीजिए।

भावार्थ—हम शक्तिपुञ्ज प्रभु की प्रेरणा में वर्तें। सूर्य आदि सब देवों को अपने अन्दर देखें, इस शरीर को देवमन्दिर जानें। प्रभु हमें दानशील बनाएँ और वीर सन्तानों से युक्त धन प्रदान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पञ्च प्रदिशः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनसा+हृदयेन च

दुह्नां मे पञ्च प्रदिशो दुह्नामुर्वीर्यथाबलम्। प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च॥ ९॥

१. **पञ्च प्रदिशः**=विस्तृत (पचि विस्तारे) अथवा 'प्राची, प्रतीची, अवाची, उदीची व मध्य' नामक पाँच महादिशाएँ **मे**=मेरे लिए **दुह्नाम्**=अभिमत फल दें—सब स्थानों से मेरी इष्ट कामनाएँ पूर्ण हों तथा **उर्वीः**=(षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्च—अश्व० १.२) द्युलोक-पृथिवीलोक, दिन रात, जल और ओषधियाँ—ये छह उर्वियाँ **यथाबलम्**=बल की वृद्धि के अनुसार **दुह्नाम्**=अपेक्षित वसुओं को देनेवाली हों। मैं **मनसा**-मन के दृढ़ शिव-संकल्प के द्वारा **च**-तथा **हृदयेन**-हृदयस्थ श्रद्धा के द्वारा **सर्वाः**=सब **आकूतीः**=कामनाओं को **प्रापेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम दृढ़ संकल्प व श्रद्धा से सब कामनाओं को पूर्ण कर सकें। पाँचों दिशाएँ तथा द्युलोक आदि छह उर्वियाँ हमें अभिमत फलों को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः, त्वष्टा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोसनिं वाचमुदेयम्

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे॥ १०॥

१. **गोसनिम्**=ज्ञान की वाणियों का ही सम्भजन करनेवाली **वाचम्, उदेयम्**=वाणी को मैं बोलूँ—हमारी वाणियाँ ज्ञानवर्धक शब्दों का ही उच्चारण करें। हे प्रभो! **वर्चसा** तेजस्विता के साथ **मा अभि**=मेरी ओर **उदिहि**=आइए—आप मुझे तेजस्वी बनाइए। 'गोसनि वाक्' का उच्चारण करता हुआ मैं ज्ञानी बनूँ और वर्चस्वी होऊँ। २. मुझे **सर्वतः**=सब ओर से **वायुः**-प्राणशक्ति और क्रियाशीलता **आरुन्धाम्**-रुद्ध करे। मैं सदा प्राणशक्ति सम्पन्न व क्रियाशील बना रहूँ। **त्वष्टा**=वह रूपों का निर्माता प्रभु **मे पोषं दधातु**=मुझमें पोषण को धारण करे।

भावार्थ—मैं ज्ञान, वर्चस्, क्रियाशीलता व पोषण को धारण करूँ।

विशेष—इसप्रकार जीवन को सब वसुओं से सम्पन्न करनेवाला 'वसिष्ठ' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

विविध अग्नियों की अनुकूलता

ये अग्नयो अप्स्वन्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ १॥

१. **ये**-जो **अग्नयः**-अग्नियाँ **अप्सु-अन्तः**-जलों 'वाडवाग्नि' के रूप में हैं, **ये** जो **वृत्रे**-मेघ में 'विद्युद्रूप' से, **ये**-जो **पुरुषे**-पुरुष में अशित-पीत परिणाम हेतुत्वेन 'वैश्वानर' रूप से हैं और **ये** जो **अश्मसु**-सूर्यकान्त आदि शिलाओं में है, इसीप्रकार **यः**-जो अग्नि **ओषधीः**-जौ चावल आदि ओषधियों में **आविवेश**-प्रविष्ट हुआ है, **यः**-जो **वनस्पतीन्**-वृक्षों में प्रविष्ट है, **तेभ्यः**-उन सब जगदनुग्राहक अग्नियों के लिए **एतत्**-यह **हुतम् अस्तु**-हवन हो।

भावार्थ—संसार में विविध पदार्थों में विविध रूप से अग्नि का निवास है। अग्निहोत्र करने से इन सब अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सोम, गौ, पशु-पक्षी तथा मनुष्यों में अग्नि की ठीक स्थिति

यः सोमे॑ अ॒न्तर्यो गोष्व॒न्तर्य आवि॑ष्टो॒ वयः॑सु॒ यो मृगेषु॑।
य आ॑वि॒वेश॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत्॥ २॥

१. **यः**-जो अग्नि **सोमे अन्तः**-लतारूप सोम में अमृतमय रस के परिपाक के लिए प्रविष्ट हुआ हुआ है, **यः** जो अग्नि **गोषु अन्तः**-गौ आदि ग्राम्य पशुओं में **आविष्टः**-प्रविष्ट हुआ हुआ परिपक्व दूध का निर्माण करता है, **यः**-जो अग्नि **वयःसु**-पक्षियों में अनुप्रविष्ट है, **यः**-जो **मृगेषु**-हरिण आदि में अनुप्रविष्ट है, २. तथा **यः**-जो अग्नि **द्विपदः**-दो पाँववाले मनुष्य आदि में तथा **यः**-जो **चतुष्पदः**-चार पाँववाले अन्य प्राणियों में जाठर (वैश्वानर) रूप में **आविवेश** प्रविष्ट हो रहा है, **तेभ्यः अग्निभ्यः** उन सब अग्नियों के लिए **एतत्** यह **हुतम्, अस्तु**-हवन हो।

भावार्थ—यज्ञों के होने पर यदि ओषधियों में रस का सञ्चार ठीक होता है तो गौवों में दूध का परिपाक ठीक प्रकार से होता है, अन्य पशु पक्षियों व मनुष्यों में जाठररूप में निवास करनेवाली वैश्वानर अग्नि भी ठीक बनी रहती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वैश्वानर उत विश्वदाव्यः

य इन्द्रे॑ण स॒रथं॒ याति॑ दे॒वो वैश्वान॒र उ॒त वि॑श्वदा॒व्य॑ः।
यं जोह॑वीमि॒ पृत॑नासु सास॒हिं तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत्॥ ३॥

१. **यः** जो **देवः** प्रकाशमान प्रभु **इन्द्रेण** जितेन्द्रिय पुरुष के साथ **सरथं याति** समान शरीररूप रथ में प्राप्त होता है। जितेन्द्रिय पुरुष के शरीररूप रथ में प्रभु का वास होता है। वह 'अग्नि' नामक प्रभु **वैश्वानरः**-सब मनुष्यों का हित करनेवाला है **उत**-और **विश्वदाव्यः**-हमारे अन्दर घुस आनेवाले (विश) काम-क्रोध आदि को सन्तप्त करनेवाला है। २. **यम्**-जिस **पृतनासु सासहिम्**-संग्रामों में पराभूत करनेवाले प्रभु को **जोहवीमि**-मैं पुकारता हूँ, **तेभ्यः**-उन **अग्निभ्यः** अग्रणी प्रभु के लिए **एतत् हुतम् अस्तु**-यह अपना अर्पण हो (हु दाने)। मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, जितेन्द्रिय बनें ताकि प्रभु का हमारे शरीर रथ पर वास हो। प्रभु हमें संग्राम में विजयी बनाएँगे और हमारे शत्रुओं को दग्ध कर देंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धीरः, शक्रः

यो दे॒वो वि॒श्वाद्यमु॒ काम॑मा॒हुर्यं दा॒तारं॑ प्रतिगृह्णन्त॑मा॒हुः।
यो धीरः॑ श॒क्रः प॑रि॒भूरदा॑भ्य॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत्॥ ४॥

१. **यः देवः**-जो दान आदि गुणों से युक्त अग्नि (प्रभु) **विश्वात्**-प्रलयकाल में सबको खा-सा जाता है—सबको अपने अन्दर समा लेता है, **उ**-और **यम्**=जिसे **कामम्, आहुः**='काम' इस नाम से कहते हैं। प्रभु ही धर्माविरुद्ध कामरूप से सब प्राणियों में स्थित हैं। **'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि भूतेषू भरतर्षभ'**, **यम्**-जिसे **दातारम्**=देनेवाला व **प्रतिगृह्णन्तम्**-लेनेवाला **आहुः**-कहते हैं—काम ही दाता है, काम ही प्रतिग्रहीता है। २. **यः**=जो प्रभुरूप अग्नि **धीरः**=हम सबकी बुद्धियों को प्रेरित करनेवाली है, जो **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् हैं, **तेभ्यः अग्निभ्यः**=उन अग्रणी प्रभु के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**-आत्मसमर्पण हो।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे अन्दर सब उत्तम कामनाओं को जन्म देते हैं। वे ही हमें बुद्धि व बल देते हैं (धीरः, शक्रः)। उनके लिए हम अपना अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वर्चोधसे, यशसे, सूनृतावते

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ५॥

१. **'भवन्ति यस्मिन् भूतानि इति भुवनः संवत्सरः'**—इस व्युत्पत्ति से भुवन का भाव है 'संवत्सर'। इस संवत्सर में होनेवाले चैत्र आदि बारह तथा 'संसर्पाहस्पत्य' नामक तेरहवाँ अधिमास—ये मिलकर तेरह भौवन हैं। **त्रयोदस भौवनाः**=तेरह-के-तेरह मास **पञ्च मानवाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद—ये पाँचों मनुष्य **यम्**-जिस **होतरम्**=सब-कुछ देनेवाले **त्वा**=आपको **मनसा**-मनन के द्वारा **अभिसंविदुः**=आभिमुख्येन सम्यक् जानते हैं, २. **तेषाम्**=उन **वर्चोधसे**=शक्ति का आधान करनेवाले, **यशसे**=यशस्वी, **सूनृतावते**-प्रिय, सत्य वाणीवाले **अग्निभ्यः**=अग्नि नामक प्रभु के लिए **एतत्**=यह **हुतम् अस्तु**=समर्पण हो। लोक में जहाँ 'वर्चस्, यश, सूनृतावाणी' है वह सब उस प्रभु की विभूति ही है। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हुए हम भी इन वर्चस्, यश व सूनृतावाणी को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मननशील पुरुष उस प्रभु को सदा 'होता' के रूप में जानते हैं। प्रभु ही वर्चस्, यश व सूनृतावाणी को प्राप्त कराते हैं। हम इस अग्नि नामक प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड्बृहती** ॥

'उक्षान्न, वशान्न, सोमपृष्ठ' वेधस् के सम्पर्क में

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ६॥

१. **उक्षान्नाय**-(उक्षा-one of the chief medicament) पौष्टिक ओषधियों को ही अपना अन्न बनानेवाला, **वशान्नाय**=(वशा-पृथिवी—श० १.८.३.१५.) पृथिवी को ही अपना अन्न बनानेवाला, अर्थात् वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करनेवाला, **सोमपृष्ठाय**=सोमशक्ति को ही अपना आधार बनानेवाला—ऐसे **वेधसे** ज्ञानी पुरुष के लिए हम अपना अर्पण करते हैं। इसके सम्पर्क में आकर हम भी 'वेधस्' बन पाते हैं। २. **वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः**=सब मनुष्यों के हितकारी प्रभु को ही जो ज्येष्ठ मानते हैं, **तेभ्यः**=उन **अग्निभ्यः**-अग्रणी पुरुषों के लिए **एतत्**-यह **हुतम्, अस्तु**-अर्पण हो। प्रभु परायण विद्वानों के प्रति अपना अर्पण करते हुए हम भी उन-जैसे ही बनते हैं।

भावार्थ—हम उन विद्वानों के सम्पर्क में रहें जो १. पौष्टिक ओषधियों का ही प्रयोग करते हैं, २. पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करते हैं, ३. सोमशक्ति को जीवन

का आधार मानते हैं और ४. प्रभु को सर्वश्रेष्ठ जानते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

यज्ञों द्वारा अग्नि का आराधन

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ७॥

१. **ये** जो अग्नियाँ **दिवम्** द्युलोक में **पृथिवीम्** पृथिवीलोक में **अनुसञ्चरन्ति**=अनुप्रविष्ट होकर विचरण करती हैं, **ये** जो **अन्तरिक्षम्**-अन्तरिक्ष लोकों में तथा **विद्युतम्** मेघस्थ विद्युत् में **अनु**-(सञ्चरन्ति) अनुप्रविष्ट होकर गति करती हैं। २. **ये**=जो अग्नियाँ **दिक्षु अन्तः**-दिशाओं में स्थित हैं और **ये**-जो **वाते अन्तः**-वायु के अन्दर हैं, **तेभ्यः अग्निभ्यः**-उन अग्नियों के लिए **एतत्**-यह **हुतम्, अस्तु**-हवन हो। हवन के द्वारा हम सब लोकों में स्थित अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा सर्वत्र स्थित अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के उपासन+विद्वत्संग से कामाग्निशमन

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान्देवानाङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम्॥ ८॥

१. **सवितारम्** उस प्रेरक **अग्निम्** प्रभु को **हवामहे** पुकारते हैं, जोकि **हिरण्यपाणिम्** हितरमणीय पाणि (हाथ) वाले हैं—जिनका वरदहस्त हमारा हित ही हित करता है, हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशाली है, **बृहस्पतिम्** ज्ञान के स्वामी हैं, **वरुणम्** पाप के निवारक व **मित्रम्** सबसे स्नेह करनेवाले हैं। इस प्रभु का आराधन ही हमारे जीवन में कामाग्नि को शान्त करेगा। २. हम **विश्वान्** सब **अङ्गिरसः**-अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले **देवान्** ज्ञानी पुरुषों को पुकारते हैं, इनके सम्पर्क में हम ज्ञान की वृद्धि करनेवाले बनते हैं। ये विद्वान् **इमम्** इस **क्रव्यादम्** हमारे मांस को खा जानेवाले **अग्निम्** कामाग्नि को **शमयन्तु**-शान्त करें।

भावार्थ—प्रभु का उपासन व विद्वानों का संग हमें कामाग्नि को शान्त करने में समर्थ करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

'क्रव्यात्, पुरुषरेषण, विश्वदाव्य' अग्नि

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम्॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के उपासन व विद्वत्संग से **अग्निः**-यह कामाग्नि **शान्तः** शान्त हो गई है। यह **क्रव्यात्**-मांस को ही खा जानेवाली **पुरुषरेषणः**-पुरुषों को हिंसित करनेवाली कामरूप अग्नि **शान्तः**-शान्त हो गई है। २. **अथ उ**-अब निश्चय से **यः** जो **विश्वदाव्यः**-सबका दाहक कामाग्नि है, **तम्** उस **क्रव्यादम्** मांस को खा जानेवाले 'महाशन, महापाप्मा' कामाग्नि को **अशीशमम्**=मैं शान्त करता हूँ।

भावार्थ—कामाग्नि मांस खा जानेवाला, हिंसित करनेवाला व सन्तापक है। इसे शान्त करना ही मंगलप्रद है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कामाग्नि की शान्ति के साधन

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्॥ १०॥

१. **ये**-जो **सोमपृष्ठाः**=सोम आदि ओषधियों को अपने पृष्ठ पर धारण करनेवाले **पर्वताः**=पर्वत हैं, **ते**-वे **क्रव्यादम्**-इस मांसभक्षक कामाग्नि को **अशीशमन्**-शान्त करते हैं। पर्वतों का शान्त जलवायु तथा पर्वतों की शीतवीर्य सोम आदि लताएँ वीर्य-रक्षण के लिए अनुकूलता उत्पन्न करती हैं। इसप्रकार **उत्तानशीवरीः आपः**=जल उत्तानशयन स्वभाव हैं, अर्थात् सामान्यतः ये शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति का कारण होते हैं। कटिप्रदेश का जल से स्नान इस कार्य में बड़ा सहायक है। २. **वातः**=वायु, **पर्जन्यः**=बादल **आत्**-और अब **अग्नि**=अग्निहोत्र—ये सब इस कामाग्नि को शान्त करते हैं। वायुसेवन तथा प्राणायाम द्वारा वायु का आराधन तो वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण होता ही है। वृष्टिजल में स्नान व वृष्टिजल का पान भी वीर्यरक्षण की अनुकूलता को उत्पन्न करता है। अग्निहोत्र आदि करते हुए अग्नि का शरीर के साथ सम्पर्क भी त्वचा की कोमलता को दूर करके वीर्यरक्षण का साधक हो जाता है। वायु, बादल, अग्नि—इन सबके सम्पर्क में कामाग्नि की शान्ति में सहायता मिलती है।

भावार्थ—'पर्वतों की शीतवीर्य ओषधियों का प्रयोग, जल से कटि-स्नान, वायु-सेवन, वृष्टिजल में स्नान व उसका पान तथा अग्नि के ताप से त्वचा की कोमलता का निराकरण'—ये सब साधन कामाग्नि को शान्त करते हैं।

विशेष—कामाग्नि की शान्ति से वर्चस् को प्राप्त करनेवाला 'वसिष्ठ' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

हस्तिवर्चसम्

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अदित्या यत्तन्वः संबभूव।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥ १॥

१. मुझमें **हस्तिवर्चसम्**-हाथी का बल **बृहद्यशः**-महान् यश को **प्रथताम्**-विस्तृत करे, अर्थात् मैं हाथी के समान बल प्राप्त करूँ, परन्तु मेरा वह बल मुझे यशस्वी बनानेवाला हो। मुझे वह बल प्राप्त हो **यत्**=जोकि **अदित्याः**=प्रकृति के, अदीना देवमाता (सूर्यादि का निर्माण करनेवाली प्रकृति) के **तन्वः**-शरीर से **संबभूव**-उत्पन्न हुआ है। जीवन जितना प्राकृतिक—प्रकृति के अनुकूल-स्वाभाविक होगा, उतना ही शरीर का बल बढ़ेगा। २. **तत् एतत्**=प्रसिद्ध इस बल को **विश्वेदेवाः**=सूर्य आदि सब देव और **सजोषः**-उनके साथ समान प्रीतिवाली **अदितिः**-उनकी माता प्रकृति—ये **सर्वे**=सब **सम्**-मिलकर **मह्यम्**=मेरे लिए **अदुः**=देते हैं।

भावार्थ—जितना-जितना हमारा जीवन स्वाभाविक होगा, उतना-उतना ही हम शक्तिशाली बनेंगे। अदिति (प्रकृति) व सूर्य आदि सब देव हमें बल प्राप्त कराएँगे।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र व रुद्र

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु:।

देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा॥ २॥

१. **मित्रः**=स्नेह की भावना **च**-और **वरुणः**-निर्द्वेषता का भाव **च**-तथा **इन्द्रः**-जितेन्द्रियता की दिव्य भावना **च**-और **रुद्रः**-(रुत्+द्र) रोगों को दूर भगाने का संकल्प—ये सब **चेततुः**-हमें अनुग्राह्यरूप में जानें—इनके अनुग्रह से हमारा शरीर सबल बना रहे। २. **देवासः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव **विश्वधायसः**-सबका धारण करनेवाले हैं, **ते**-वे **मा**-मुझे **वर्चसा**-तेज से **अञ्जन्तु**-(अक्त) आश्लिष्ट करें। इन देवों के सम्पर्क में जीवन को बिताता हुआ मैं तेजस्वी बनूँ।

भावार्थ—'स्नेह, निर्द्वेषता, जितेन्द्रियता व नीरोगता' की भावनाएँ मुझे सबल बनाएँ। सूर्यादि देवों के सम्पर्क में मेरा जीवन तेजस्वी बने।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापरानुष्टुप्विराडतिजगती** ॥

हाथी, राजा व सूर्य के समान तेजस्वी

येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्ये[ष्वप्स्व]न्तः।

येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु॥ ३॥

१. **हस्ती**-हाथी **येन वर्चसा**-जिस तेज के साथ **संबभूव** संगत होता है, **येन**-जिस तेज से **मनुष्येषु अप्सु**-(आपो नारा इति प्रोक्तः) मानव प्रजाओं के **अन्तः**-अन्दर **राजा**=शासक (संबभूव) संगत होता है और **येन**-जिस तेज से **अग्रे**-प्रारम्भ में **देवाः**-सूर्यादि देव **देवताम् आयन्**-देवत्व को प्राप्त होते हैं, हे **अग्ने**-परमात्मन्! **माम्**-मुझे **अद्य**-आज **तेन वर्चसा**-उस वर्चस से **वर्चस्विनं कृणु**-वर्चस्वी बनाओ। २. हम हाथी के समान बल को प्राप्त हों, मानव प्रजाओं में राजा के समान तेजस्वी हों, सूर्य आदि देवों के समान हमारा तेज हो। सूर्य आदि के सम्पर्क में जीवन बिताते हुए हम तेजस्वी बनें।

भावार्थ—हमारा तेज हाथी के समान, राजा के समान व सूर्यादि देवों के समान हो।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

प्राणसाधना से वर्चस्विता की प्राप्ति

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः। यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः।

तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा॥ ४॥

१. हे **जातवेदः**-सब पदार्थों में विद्यमान अग्ने! **यत्**-जो **ते, वर्चः**-तेरा तेज **आहुतेः**-आहुति के द्वारा **बृहत् भवति**-बहुत होता है—घृत की आहुति से अग्नि चमक उठती है। **यावत्**-जितना **वर्चः**-तेज इस **असुरस्य**-प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले **सूर्यस्य**-सूर्य का है, **च**-और जितना तेज **हस्तिनः**-हाथी का है, **तावत्**-उतना **वर्चः**=तेज **मे**-मुझमें **अश्विना**=प्राणापान **आधत्ताम्**-स्थापित करें। २. ये प्राणापान **पुष्करस्रजा**-शरीर में रेत:कणरूप जलों का निर्माण करनेवाले हैं। इन रेत:कणरूप जलों के निर्माण द्वारा ही ये हमारे शरीर में शक्ति का आधान करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से रेत:कणों के रक्षण के द्वारा हम इसप्रकार तेजस्वी बनते हैं जैसेकि 'आहुत अग्नि' तेजस्वी होता है। जैसे सूर्य दीप्त है, उसी प्रकार हम दीप्त वर्चस् बनें, हाथी के समान बलवान् हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यशस्वी बल

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते। तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम्॥ ५॥

१. **यावत्**=जितनी **चतस्रः प्रदशिः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ फैली हैं, **यावत्**=जहाँ तक **चक्षुः**=आँख **समश्नुते**=व्याप्त होती है, **तावत्**=उतनी दूर तक व्याप्त होनेवाला **इन्द्रियम्**=बल **सम् ऐतु**=मेरे साथ सर्वथा सङ्गत हो। २. **मयि**=मुझमें **तत्**=वह **हस्तिवर्चसम्**=हाथी के समान बल प्राप्त हो।

भावार्थ—मैं अपने बल के द्वारा रक्षणात्मक कार्यों को करता हुआ चारों दिशाओं में यशस्वी बनूँ। मैं हाथी के समान बल प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अतिष्ठावान्

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान्बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाऽभि षिञ्चामि मामहम्॥ ६॥

१. **सुषदाम्**=(सुखेन सीदन्ति) अरण्य में स्वेच्छा से आसीन होनेवाले **मृगाणाम्**=हरिण आदि पशुओं में **हस्ती**=हाथी **हि**=निश्चय से **अतिष्ठावान् बभूव**=सबको लाँघकर स्थितिवाला—सबसे आगे बढ़ा हुआ है। हाथी का बल सबसे अधिक है। २. **तस्य**=उस हाथी के **भगेन**=भजनीय-सेवनीय **वर्चसा**=बल से **अहम्**=मैं **माम्**=अपने को **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। मैं भी बल के दृष्टिकोण से अपनों में आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—जैसे हाथी पशुओं में सर्वाधिक बली है, इसीप्रकार मैं अपने सजातियों में सर्वाधिक बली बनने के लिए यत्नशील होता हूँ।

विशेष—सुरक्षित शक्ति के द्वारा उत्तम सन्तानों का निर्माण करनेवाला यह साधक 'ब्रह्मा' (creater) बनता है। यह जिन सन्तानों को जन्म देता है, वे चन्द्रतुल्य सुन्दर मुखवाले होते हैं। अगले सूक्त का ऋषि यह ब्रह्मा है और देवता 'चन्द्रमाः' है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेहत्वापादक पाप-रोग का विनाश

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत्। इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि॥ १॥

१. जिस बन्ध्यत्व के आपादक पाप से व तज्जन्य रोग से हे नारि! तू **वेहत्**=(विशेषेण हन्ति गर्भम्) गर्भघातिनी वन्ध्या **बभूविथ**=हो जाती है, उस पाप आदि को **त्वत्**=तुझसे **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं। २. **इदम्**=इस **तत्**=उस वेहत्व के आपादक पाप-रोग आदि को **त्वत्**=तुझसे अत्यन्त **दूरे**=अन्य स्थान पर—दूर देश में **अपनिदध्मसि**=अपक्षिप्त करते हैं—कहीं सुदूर देश में फेंकते हैं।

भावार्थ—जिस भी पाप-रोग से बन्ध्यत्व की उत्पत्ति होती है, उसे उचित उपाय द्वारा दूर करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दशमास्यः वीरः

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्बाणइवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥ २॥

१. हे नारि! **ते**-तेरे **योनिम्** जनन स्थान में **पुमान्** पुंस्त्व से युक्त **गर्भः एतु**-गर्भ प्राप्त हो। इसप्रकार प्राप्त हो **इव**-जैसेकि **बाणः**=बाण **इषुधिम्**-तरकस को प्राप्त होता है। १. वह **ते**-तेरा गर्भ **पुत्रः**-पुत्ररूप में परिणत हुआ हुआ **दशमास्यः**-दस महीने तक गर्भ में भृत हुआ हुआ सर्वावयव सम्पूर्ण **वीरः** बल से युक्त **अत्र** इस प्रसूतिकाल में **आजायताम्**-अभिमुख उत्पन्न हो।

भावार्थ—गर्भ में दसमास तक ठीक रूप में पुष्ट हुआ-हुआ वीर पुत्र हमारे घर में जन्म ले।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुमान् पुत्र की उत्पत्ति

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान्॥ ३॥

१. हे स्त्रि! **पुमांसम्** पुंस्त्वोपेत **पुत्रम्**-पुत्र को **जनय**=जन्म दे, **अनु** उस पुमान् के बाद भी **पुमान् जायताम्**-पुमान् पुत्र ही उत्पन्न हो २. हे नारि! तू **जातानां पुत्राणाम्**-इन उत्पन्न हुए हुए पुत्रों की **माता भवासि**=माता होती है, **यान् च**-और जिनको **जनयाः**=भविष्य में जन्म देगी, उनकी भी तू माता होती है। उनका तू उत्तम निर्माण करनेवाली बनती है। प्रयत्न करके तू उन्हें शरीर में स्वस्थ, मन में निर्मल व बुद्धि में तीव्र बनाकर राष्ट्र का उत्तम अंग बनाती है, तभी तो तू माता इस यथार्थ नामवाली होती है।

भावार्थ—हमारे घरों में वीर सन्तानें जन्म लें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता **चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋषभक ओषधि के बीज

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥ ४॥

१. **यानि**=जो **भद्राणि**-भन्दनीय, अमोघवीर्य **बीजानि**=बीज हैं **च**=और जिन्हें **ऋषभाः**=ऋषभक नामक ओषधियाँ **जनयन्ति**-पैदा करती हैं, **तैः**-उन बीजों से **त्वम्**=तू **पुत्रम्**-नर सन्तान को **विन्दस्व** प्राप्त कर। २. **सा**-वह तू **प्रसूः**-उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली व **धेनुका**-उस सन्तान को दूध पिलानेवली **भव**-हो। तू स-पुत्र वृद्धि को प्राप्त हो, मृत अपत्या न हो।

भावार्थ—ऋषभक नामक ओषधि के बीजों का प्रयोग हमें अमोघ-वीर्य बनाता है। इन बीजों का प्रयोग करनेवाली माता जीवित सन्तानोंवाली होती हुई उन्हें दूध पिलानेवाली होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती**॥

प्राजापत्य

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव॥ ५॥

१. हे नारि! **ते**-तेरे साथ **प्राजापत्यम्**-ब्रह्म से निर्मित प्रजा की उत्पत्ति करनेवाले कर्म को **कृणोमि**-करता हूँ। **ते**=तेरे **योनिम्**-गर्भाशय-स्थान को **गर्भः**=गर्भ **आ एतु**=प्राप्त हो। २. हे **नारि**-स्त्रि! **त्वम्**=तू **पुत्रम्**=पुत्र को **विन्दस्व**-प्राप्त हो, **यः**-जो पुत्र **तुभ्यम्**-तेरे लिए, **शम्, असत्**-शान्ति देनेवाला हो **उ**-और **तस्मै** उस पुत्र के लिए **त्वम्** तू भी **शम्, भव**=शान्ति देनेवाली हो।

भावार्थ—प्राजापत्य कर्म से हमें सन्तान प्राप्त हो। माता सन्तान के लिए व सन्तान माता के लिए शान्ति देनेवाली हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**स्कन्धोग्रीवाबृहती** ॥

दैवी ओषधियाँ

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः॥ ६ ॥

१. **यासाम्**-जिन **वीरुधाम्**-विरोहणस्वभावा ओषधियों का **द्यौः**-द्युलोक **पिता**-वृष्टिजलरूप में रेतस् का सेचन करनेवाला उत्पादक पिता **बभूव**=है और उस रेतस को धारण करनेवाली **पृथिवी**-पृथिवी **माता**=जनयित्री है और जिन वीरुधों का **समुद्रः**=स्यन्दनशील जलराशिरूप समुद्र ही **मूलम्**=मूलकारण है। समुद्र ही से तो वाष्पीभूत होकर जल मेघरूप में परिणत होकर बरसता है। २. **ताः**=वे **देवी**=सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाली **ओषधयः**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधियाँ **त्वा**-तुझे **पुत्रविद्याय**=पुत्र की प्राप्ति के लिए **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण रक्षित करें।

भावार्थ—उत्तम वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग हमें नीरोग बनाए व नीरोग सन्तानों को प्राप्त करानेवाला हो।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'भृगु' है—तपस्वी (भ्रस्ज पाके) यह वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग करता है। यह प्रभु के सन्देश को इस रूप में प्रकट करता है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पयस्वतीः ओषधयः

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः।
अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः॥ १ ॥

१. **ओषधयः**=व्रीहि-यव (चावल-जौ) आदि ओषधियाँ **पयस्वतीः**=सारवाली हैं। इनके प्रयोग से **मामकं वचः**=मेरा वचन भी **पयस्वत्**=सारवाला हो। २. **अथ उ**=अब निश्चय से **अहम्**=मैं **पयस्वतीनाम्**-इन सारभूत ओषधियों का **सहस्रशः**=हज़ारों प्रकार से **आभरे**-भरण करता हूँ।

भावार्थ—व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ सारवाली हैं। इनके विविध प्रकार के प्रयोग से मेरा वचन भी सदा सारवाला होता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पयस्वान् संभृत्वा, अयः

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे॥ २ ॥

१. **अहम्**=मैं **पयस्वन्तम्**-उस सारवाले देव को **वेद**=जानता हूँ। वह देव ही **धान्यम्**-व्रीहि-यव आदि को **बहु चकार**=खूब उत्पन्न करते हैं। इस धान्य के द्वारा ही वे प्रभु सब प्राणियों का आप्यायन (वृद्धि) करते हैं। २. **संभृत्वा नाम**=संभरणशील नामक **यः देवः**=जो देव है **तं वयं हवामहे**=उसे हम पुकारते हैं। ये प्रभु सर्वत्र स्थित सार का संभरण करनेवाले हैं और **यः**=जो प्रभु **अयज्वनः**=अयज्ञशील पुरुष के **गृहे**=घर में **अयः**=अग्नि (fire) के समान हैं, उसमें स्थित

सब द्रव्यों को भस्म करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु 'पयस्वान्' हैं—सारभूत पदार्थोंवाले हैं। प्रभु ही व्रीहि-यव आदि धान्यों को जन्म देते हैं। ये संभरणशील प्रभु अयज्ञशील पुरुष के गृह में अग्नि के समान दाहक हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्फाति

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्॥ ३॥

१. **इमाः**-ये **याः**-जो **पञ्च**-पाँच **प्रदिशः**-प्रकृष्ट दिशाएँ हैं और इनमें जो ये **मानवीः**-मनुष्य-सम्बन्धी **पञ्च**-पाँच (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद) **कृष्टयः**-प्रजाएँ हैं, वे **इह**-यहाँ—इस जीवन में **स्फातिम्**-धन धान्य की समृद्धि को **समावहान्**-प्राप्त कराएँ। २. इसप्रकार धन धान्य की समृद्धि को प्राप्त कराएँ **इव**-जैसे **वृष्टे**-मेघजल का वर्षण होने पर **नदीः** (नद्यः इव) नदियाँ **शापम्**-अन्नाभावरूप सब शाप को **समावहान्**-दूर बहा ले-जाती हैं। नदियाँ सब ऊषर भूमियों को सींचकर धन-धान्य की वृद्धि का कारण बनती हैं और इसप्रकार अन्नाभाव के शाप को दूर करती हैं।

भावार्थ—वृष्टि होकर अन्नाभाव का अभिशाप दूर हो। सब प्रजाएँ सब दिशाओं में धन-धान्य की समृद्धि प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शतधार-सहस्रधार उत्स

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम्। एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम्॥ ४॥

१. यहाँ गतमन्त्र से 'वृष्टे' शब्द की अनुवृत्ति है। (वृष्टे) वृष्टि होने पर **उत्सम्**-जलोत्पत्ति सधान (निर्झर) **शतधारम्**-सैकड़ों उदक-धाराओं से युक्त होता हुआ तथा **सहस्रधारम्**-हज़ारों धाराओं का रूप धारण करता हुआ **अक्षितम्** (न क्षितं यस्मात्) विनाश को दूर करनेवाला होकर **उद् (भवति)**-उद्भूत होता है। २. **एव**-इसीप्रकार **अस्माकम्**-हमारा **इदम् धान्यम्**-यह धान्य **सहस्रधारम्**-अपरिमित धाराओं से युक्त—बहुत प्रकार के उपायों से बढ़ा हुआ **अक्षितम्**-क्षयरहित हो। यह धान्य धारण करनेवाला हो, विनाश से बचानेवाला हो।

भावार्थ—वृष्टि से सैकड़ों धाराओंवाले स्रोत फूट पड़ें और हमें सहस्रों का धारण करनेवाले धान्य प्राप्त हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

धन-धान्य की समृद्धि व कर्त्तव्य-कर्मों की स्फाति

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥ ५॥

१. हे **शतहस्त**-सैकड़ों हाथों से युक्त प्रभो! आप सैकड़ों हाथों से **समाहर**-हमारे लिए धन धान्य प्राप्त कराइए। हे **सहस्रहस्त**-हज़ारों हाथोंवाले प्रभो! **संकिर**-हममें धनों को प्रेरित कीजिए (विक्षिप)। २. **च**-और इसप्रकार **इह**-इस जीवन में **कृतस्य कार्यस्य** कर्त्तव्यभूत कार्यों की **स्फातिम्**-समृद्धि को **समावह**-दीजिए। हम धन-धान्य प्राप्त करके अपने कर्त्तव्य-कर्मों को ठीक रूप से करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रभूत धन धान्य प्राप्त कराएँ। पोषण की चिन्ता से रहित होकर हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों को ठीक रूप से करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तीन+चार+एक

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि॥ ६॥

१. अर्जित धन-धान्य में से **तिस्रः मात्रा**=तीन अंश **गन्धर्वाणाम्**=ज्ञान को धारण करनेवाले के हों, अर्थात् धन के तीन अंश ज्ञान-प्राप्ति में व्ययित (खर्च) हों। बच्चों के शिक्षण, पुस्तकों के संग्रह व पाठशाला के लिए दान आदि कार्यों में धन के तीन अंशों का विनियोग किया जाए २. **चतस्रः**=धन की चार मात्राएँ **गृहपत्न्याः**=गृहपत्नी की हों। इन्हें वह घर के आवश्यक अन्न वस्त्र आदि के जुटाने में प्रयुक्त करेगी। ३. **तासाम्**=उन मात्राओं में **या**=जो **स्फातिमत्तमा**=अतिशयेन वृद्धि से युक्त है—राष्ट्र-वृद्धि का कारण बनती है **तया**=उस कला से **त्वा अभिमृशामसि**=तुझे छूते हैं। धन की इस आठवीं कला को राजा के लिए देते हैं, जिसके द्वारा वह राष्ट्रवृद्धि के कार्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—धन को हम आठ भागों में बाँटें, तीन अंशों का शिक्षा व ज्ञानवृद्धि में व्यय करें, चार अंशों को घर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा एक अंश को राजा के लिए कर-रूप में दें, जिससे राष्ट्र की वृद्धि ठीक रूप से हो सके।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उपोह+समूह

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम्॥ ७॥

१. **उपोहः**=(उप समीपं अहति प्रापयति) अप्राप्त धान्य आदि को प्राप्त करना, अर्थात् योग **च**=और **समूहः**=(प्राप्तं समूहति अभिवर्धयति) प्राप्त धन-धान्य का अभिवर्धन व रक्षण, अर्थात् क्षेम **च**=निश्चय से **ते**=तेरे **क्षत्तारौ**=क्षतों से त्राण करनेवाले हैं। ये योग-क्षेम हे **प्रजापते**=परिवार का पालन करनेवाले सद्गृहस्थ! तेरे रक्षक हैं। **तौ**=वे योग और क्षेम **इह**=यहाँ—इस घर में **बहुं स्फातिम्**=खूब ही वृद्धि को **आवहताम्**=प्राप्त कराएँ, जो वृद्धि **भूमानम्**=घर की सत्ता का कारण बनती है। (भू सत्तायाम्) तथा **अक्षितम्**=घर को विनाश से बचाती है।

भावार्थ—एक गृहस्थ योग-क्षेम का ध्यान करे। ये ही घर की स्थिति या विनाश का करण बनते हैं। अगले सूक्त का ऋषि भी 'भृगु' ही है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तुदः (कामः)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ १॥

१. पति पत्नी से कहता है कि **उत्तुदः**=(उत्कृष्टं तुदति) बहुत पीड़ित करनेवाला यह 'काम' **त्वा उत्तुदतु**=तुझे पीड़ित करे। तू कामार्त्ता होकर **स्वे शयने**=अपने बिछौने पर **मा धृथाः**=मत पड़ी रहे, तेरा झुकाव मेरी ओर हो। तू मुझसे मेल की कामनावाली हो। २. **या**=जो **कामस्य**=कामदेव का **भीमा इषुः**=भयकारी बाण है, **तया**=उस बाण से **त्वा**=तुझे **हृदि**=हृदय

में **विध्यामि**-बींधता हूँ।

भावार्थ—पत्नी में पति के प्रति संग की कामना हो। यह काम पत्नी को पति के प्रति झुकाववाला करे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

काम का बाण

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम्।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥ २॥

१. **आधीपर्णाम्**-मानस पीड़ाएँ ही जिसके पत्ते हैं, **कामशल्याम्**-अभिलाषा (रिरंसा) ही जिसका शल्य है (बाणाग्रे प्रोतं आयसं अंगम्), **संकल्पकुल्मलाम्**-भोगविषयक संकल्प ही जिसका कुल्मल है—दारु और शल्य को जोड़नेवाला द्रव्य है—ऐसा यह काम का बाण है। २. **ताम्, इषुम्**-उस काम के बाण को **सुसन्नताम्**-लक्ष्य की ओर ठीक झुका हुआ **कृत्वा**=करके **कामः**-यह कामदेव **त्वा**-तुझे **हृदि विध्यतु**-हृदय में विध्य करे।

भावार्थ—काम का बाण अति तीक्ष्ण है। उससे विद्ध होकर पत्नी पति की ओर झुकाववाली हो।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्लीहा का शोषक कामेषु

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता।
प्राचीनपक्षा व्यो ॒षा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ ३॥

१. **या** जो **प्लीहानम्**-हृदय के परिसर भाग में होनेवाले प्लीहा नामक प्राणाश्रय मांसखण्ड को **शोषयति** सुखा डालता है, वह **कामस्य**-काम का **इषुः**-बाण **सुसन्नता**-सम्यक् लक्ष्य की ओर झुका है। २. यह बाण **प्राचीनपक्षा**-प्राञ्चन—आगे बढ़नेवाला व ऋजु-सरल पक्षोंवाला है, **व्योषा**-विशेषरूप से जलानेवाला है, **तया**=उस बाण से **त्वा**-तुझे **हृदि**-हृदय में **विध्यामि**-बींधता हूँ।

भावार्थ—काम से पीड़ित व्यक्ति प्राणान्त की पीड़ा को अनुभव करता है। काम के बाण से विद्ध पत्नी पति के प्रति प्रेमवाली होती है और पति को पाकर अपने में प्राणशक्ति का अनुभव करती है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृदुः, निमन्युः, केवली

शुचा विद्धा व्यो ॒षया शुष्कास्याभि सर्प मा।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता॥ ४॥

१. **व्योषया** विशेष दाह करनेवाले, **शुचा**-शोकवर्धक बाण से **विद्धा**-बिंधी हुई तू **शुष्कास्या**-शोक के कारण शुष्क मुखवाली **मा अभिसर्प**-मुझे प्राप्त हो। अब तू **मृदुः**-मृदुस्वभावा, **निमन्युः**-क्रोधरहित (न्यक्कृतप्रणय-कलहा) **केवली**-असाधारणा—केवल मेरी कामनावाली, **प्रियवादिनी**-प्रिय शब्दों को बोलनेवाली व **अनुव्रता**-अनुकूल कर्मों को करनेवाली हो।

भावार्थ—काम का बाण पति के प्रति पत्नी के प्रेम को बढ़ानेवाला हो। यह उसे अधिक मृदु व पतिव्रता बनाये।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेमकशा से पत्नी का आकर्षण

आजांमि त्वाजन्या परि मातुरथों पितुः।
यथा मम क्रतावसो ममं चित्तमुपायसि॥ ५॥

१. हे पत्नि! **त्वा**=तुझे **मातुः परि अथ उ पितुः** (परि)=माता व पिता के पास से **आजन्या**=प्रेम की कशा (चाबुक) के द्वारा **आ अजामि**=अपने अभिमुख प्रेरित करता हूँ। पति पत्नी के प्रति इसप्रकार प्रेमवाला हो कि पत्नी को अपने माता पिता के वियोग का कष्ट अनुभव न हो। २. मैं तुझे प्रेमकशा से इसप्रकार आहत करता हूँ कि **यथा**=जिससे तू **मम**=मेरे **क्रतौ असः**=संकल्पों व कर्मों में ही निवास करनेवाली हो और **मम चित्तम्**=मेरे चित्त को **उपायसि**-समीपता से प्राप्त हो। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो।

भावार्थ—पत्नी पति के प्रेम-व्यवहार से आकृष्ट होकर सदा पति-परायणा हो।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पितृगृह-विस्मृति

व्य1स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम्।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे॥ ६॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **अस्यै**=इस स्त्री के लिए **हृदः**=हृदय से—अन्तःकरण से **चित्तानि**-चेतनाओं को—पितृगृह की स्मृतियों को **वि-अस्यतम्**=दूर क्षिप्त कर दो। इसे यहाँ पतिगृह में इसप्रकार स्नेह व निर्द्वेषता का वातावरण प्राप्त हो कि यह पितृगृह के सुखों को याद न कर पाये। २. **अथ**=अब **एनाम्**=इसे **अ-क्रतुं कृत्वा**=पितृगृह में जाने के सब प्रकार के संकल्पों से रहित करके **मम एव**=मेरे ही **वशे कृणुतम्**=वश में करो। मेरे स्नेह व निर्द्वेषता के भाव इसे पूर्णतया मेरे वश में कर दें।

भावार्थ—पत्नी को पतिगृह में प्रेम व निर्द्वेषता के भाव इसप्रकार प्राप्त हों कि वह पितृगृह को याद ही न करे।

विशेष—गत सूक्त के अनुसार काम का स्वरूप यह है कि यह 'उत्तुद' है। काम का बाण आधीपर्णा है। यह काम वह है जो कि प्लीहानं शोषयति। इसका 'इषु व्योषा' है। इस स्वरूप को स्मरण करता हुआ व्यक्ति उचित प्रेम रखता हुआ कामासक्त नहीं होता। सदा आत्मनिरीक्षण करनेवाला यह अथर्वा बनता है—अथ अर्वाङ् (now within)। यह प्रार्थना करता है कि—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**साग्नयो हेतयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्पञ्चपदाविपरीतपादलक्ष्माः** ॥

प्राच्यां हेतयो नाम देवाः

ये 3स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ १॥

१. प्राची का भाव 'प्र अञ्च' अर्थात् निरन्तर आगे बढ़ना है। इस प्राची (पूर्व) दिशा में उदित हुआ-हुआ सूर्य निरन्तर आगे बढ़ता हुआ सर्वोच्च स्थित (zenith) सूर्य हमें भी आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले साधक **हेतयः**=आसुरभावों के हन्ता बनते हैं। **ये**-जो **अस्याम्**=इस **प्राच्यां दिशि स्थ**-प्राची दिशा में स्थित होकर निरन्तर आगे बढ़ रहे हो,

वे आप **हेतयः**-'आसुरभावों के विनाशक' इस नामवाले **देवाः**-देव **स्थ** होते हो। **तेषां वः**-उन आपका **अग्निः**=यह अग्नि **इषवः**-प्रेरक है अग्नि अग्रणी है। हमें भी अग्नि बनने के लिए प्रेरित कर रहा है। अग्नि सब मलों को भस्म करनेवाला है। ये देव भी सब आसुरभावों का हनन करनेवाले 'हेतयः' कहलाते हैं। २. हे हेतयः! **ते**-वे आप **नः मृडत** हमें सुखी करो। **ते** वे आप **नः** हमारे लिए **अधिब्रूत**-आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**-उन आपके लिए **नमः** हम नमस्कार करते हैं। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। आपके सम्पर्क में हम भी 'हेतय' बन पाएँगे।

भावार्थ—हम प्राची दिशा से आगे बढ़ने का पाठ पढ़ें। इस पाठ को पढ़कर हम आसुर भावों के हन्ता बनें। अग्नि से हम निरन्तर आगे बढ़ने का पाठ पढ़ें। इस पाठ को पढ़कर हम आसुरभावों के हन्ता बनें। अग्नि हमें निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देगी। इन देवों से हम भी उपदेश ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सकामा अविष्यवः**॥ छन्दः—**जगती, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः**॥

दक्षिणस्यां अविष्यवो नाम देवाः

ये३ऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्य विष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ २॥

१. **ये**-जो **अस्याम्**-उस **दक्षिणायां दिशि**-दक्षिण दिशा में स्थित हो—कुशलता की दिशा में स्थित हो—कुशलता के मार्ग से चल रहे हो, वे आप **अविष्यवः नाम**-'अविष्यु' नामवाले—अपना रक्षण करनेवाले **देवाःस्थ**-देव हो, **तेषां वः** उन आपका **कामः** संकल्प—प्रबल इच्छा ही **इषवः**-प्रेरक है। कामना के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, बिना कामना के कुशलता से कर्मों के करने का प्रश्न ही नहीं उठता। कामना होने पर मनुष्य एकाग्रता से कार्य करता है, अतः वह कर्म कुशलता से होता है। जैसे एक कुशल सपेरा साँप को कुशलता से पकड़ता है, साँप उसे काट नहीं पाता। इसीप्रकार इस योगी के द्वारा कार्य ऐसी कुशलता से किये जाते हैं कि ये उसे बाँध नहीं पाते। २. **ते**-वे अविष्यु नामक देवो! आप **नः**-हमें **मृडत**-सुखी करो। **ते**-वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दीजिए। **तेभ्यः वः**-उन आपके लिए **नमः**-नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**-उन आपके लिए **स्वाहा**-हम आत्मसमर्पण करते हैं। आपके प्रति अपना समर्पण करके हम भी 'अविष्यु' बनें।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार निरन्तर आगे बढ़नेवाले लोग जिस भी कार्य को करते हैं, उसमें कुशलता प्राप्त करते हैं। कुशलता से कार्य करते हुए ये अपना रक्षण कर पाते हैं। उन कर्मों से ये बद्ध नहीं होते। हम भी उनसे दाक्षिण्य का पाठ पढ़ें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अब्युक्ता वैराजः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः**॥

प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवाः

ये३ऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां वः आप इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ३॥

१. 'प्रतीची' दिशा 'प्रति+अञ्च' वापस आने—इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करने की दिशा है। **ये** जो **अस्यां प्रतीच्याम्**-इस पश्चिमा—प्रतीची—प्रत्याहार की दिशा में **वैराजाः नाम**-वैराज नामवाले **देवाः**-देव **स्थ**-हैं—विशिष्टरूप से दीप्त होनेवाले व अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (regulated) करनेवाले देव हैं, **तेषां वः**-उन आपके **आपः**-शरीरस्थ रेतःकणरूप

जल **इषवः**=प्रेरक हैं। इन कणों का रक्षण तभी होता है जब हम इन्द्रियों को विषयों से वापस ला पाते हैं और इनके रक्षण से ही हम **'वैराज'**=दीप्त जीवनवाले बनते हैं। मानो ये 'आपः' यही कह रहे हैं कि हमारा रक्षण ही तुम्हें 'वैराज' बनाएगा। २. **ते**=वे **वैराजः**=वशिष्टरूप से दीप्त जीवनवाले देवो! आप **नः मृडत**=हमपर अनुग्रह करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए भी **अधिब्रूत**=इस प्रत्याहार का खूब ही उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा अर्पण हो। आपके प्रति अपना अर्पण करके हम भी 'वैराज' बनें।

भावार्थ—संसार में हम प्रतीची दिशा से प्रत्याहार का पाठ पढ़ें और अपने जीवनों को दीप्त बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवाताः प्रविध्यन्तः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

उदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवाः

ये ३॒स्यां स्थोदीच्यां दि॒शि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒ः स्वाहा॑॥ ४॥

१. प्रत्याहार का पाठ पढ़कर अब मनुष्य ऊपर उठता है—उन्नत होता है। यही उदीची दिक् (उद्+अञ्च=ऊपर उठना) है। **ये**=जो **अस्याम्**=इस **उदीच्यां दिशि**=उदीची दिशा में—उत्तर दिशा में **प्रविध्यन्तः**=सब शत्रुओं का वेधन करके ऊपर उठनेवाले 'प्रविध्यन्' नामक **देवाः स्थ**=देव हैं, **तेषां वः**=उन आपका यह **वातः**=वायु **इषवः**=प्रेरक है। वायु गति के द्वारा सब मलों का संहार करता है। शरीर में प्राण के रूप में यह सब दोषों को दग्ध करता है—**'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**। यह वायु हमें भी उत्कृष्ट गति द्वारा सब बुराइयों के संहार का उपदेश करता है। २. **ते**=वे प्रविध्यन् नामक देवो! **नः मृडत**=हमें सुखी करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यःवः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा समर्पण हो। आपके सम्पर्क में हम भी 'प्रविध्यन्' नामक देव बनें।

भावार्थ—उदीची दिक् हमें ऊपर उठने की प्रेरणा दे। सब बाधाओं को विद्ध करके हम उन्नत होते चलें। वायु से गति के द्वारा सब दोषों को दग्ध करने की प्रेरणा लें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सौषधिका निलिम्पाः** ॥ छन्दः—**जगती, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवा

ये ३॒स्यां स्थ ध्रुवायां॑ दि॒शि नि॒लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒ः स्वाहा॑॥ ५॥

१. उन्नति के लिए नींव की दृढ़ता व स्थिरता आवश्यक है, अतः ध्रुवा दिशा आती है। यह स्थिरता का पाठ पढ़ाती है। **ये**=जो **अस्याम्**=इस **ध्रुवायां दिशि**=ध्रुवा दिक् में **निलिम्पाः नाम**=उस उन्नति के कार्य में नितरां लिप्त हो जानेवाले—उन्नति में ही लिप्त व आश्रित (लगे हुए) निलिम्प नामक **देवाः स्थ**=देव हैं। ये शत्रुओं को विद्ध करके ब्रह्मरूप लक्ष्य के वेधन का प्रयत्न करते हैं—**'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्'**॥ **तेषां वः**=उन आपकी **ओषधीः इषवः**=व्रीहि-यवादि ओषधियाँ प्रेरक हैं। इन सब ओषधियों की जड़ें भूमि में जितनी दृढ़ हो जाती हैं, उतनी ही ये फूलती-फलती हैं। इसप्रकार हम जितना आधार को दृढ़ बनाएँगे उतना ही उन्नत हो पाएँगे। २. **ते**=वे निलिम्प

नामक देवो! **नः मृडत** हमपर अनुग्रह करो। **ते** वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा समर्पण हो।

भावार्थ—निलिम्प नामक देववृत्ति के पुरुषों के सम्पर्क में हम भी निलिम्प बनें, उन्नति के कार्यों में स्थिरता से लगे रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बृहस्पतियुक्ता अवस्वन्तः** ॥ छन्दः—**जगतीपञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ।

ऊर्ध्वायां दिशि अवस्वन्तो नाम देवाः

ये३ऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ६ ॥

१. **ये**=जो **अस्याम्**=इस **ऊर्ध्वायाम्** उन्नति की चरमसीमारूप ऊर्ध्वा **दिशि**=दिक् में **अवस्वन्तः नाम**=‘अपना पूर्णतया रक्षण करनेवाले’ अवस्वान् नामक **देवाः स्थ** देव हैं। जो अपना पूर्ण रक्षण करते हैं, वे ही ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति बनते हैं—उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच पाते हैं। **तेषां वः**=उन आपका **बृहस्पतिः इषवः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु ही प्रेरक है। हृदयस्थ प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करते हुए ये प्रभु के समान ही बनने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है। ज्ञानाग्नि में सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं। **ते नः मृडत**=वे अवस्वान् नामक देव हमपर अनुग्रह करें। **ते नः अधिब्रूत** वे हमारे लिए आधिक्येन उपदेश देनेवाले हों **तेभ्यः वः नमः**=उन आपके लिए नमस्कार हो। **तेभ्यः वः स्वाहा**=उन आपके लिए हमारा समर्पण हो।

भावार्थ—हम ज्ञान के द्वारा अपना पूर्णतया रक्षण करते हुए ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति बनें।

अगले सूक्त का ऋषि भी ‘अथर्वा’ ही है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्राची, अग्निः, असितः, आदित्याः** ॥
छन्दः—**अष्टिः पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

प्राची दिक्

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

१. प्राची दिक्=(प्र अञ्च) आगे बढ़ने की दिशा है। इसमें उदित होकर सूर्य आगे और आगे बढ़ता है। इसीप्रकार इस दिशा का संकेत प्राप्त करके जो आगे बढ़ता चलता है, वह एक दिन इस प्रगति का **अधिपतिः**=स्वामी होता है। इसका नाम **अग्निः**=अग्नि हो जाता है। इसने आगे बढ़ते हुए अपने आपको अग्रस्थान पर प्राप्त कराया है। इस प्रगति का **रक्षिता**=रक्षक **असितः**=अ+सित है-अबद्ध है। जो विषयों से बद्ध नहीं हुआ वही प्रगति के मार्ग का पथिक होता है। इस प्रगति के लिए निरन्तर आगे बढ़ते हुए **आदित्याः**=सूर्य **इषवः**=प्रेरक हैं। सूर्य से प्रेरणा प्राप्त करके हम सूर्य के समान निरन्तर आगे बढ़ते हैं। २. **तेभ्यः नमः**=उन्नति पथ पर चलनेवालों के लिए नमस्कार हो। **रक्षितृभ्यः नमः**=उन्नति के रक्षकों के लिए नमस्कार हो। **इषुभ्यः**=उन्नति की प्रेरणा देनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **एभ्यः**=इन सबके लिए हमारा नमस्कार **अस्तु**=हो। **यः**=जो अकेला **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है और

यम्=जिससे **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं करते **तम्**=उस समाज द्वेषी को **वः**=आपके **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं। स्वयं दण्ड देने की अपेक्षा यही उचित है कि उसे अधिकारियों को सौंप दिया जाए। स्वयं दण्ड देने से तो अव्यवस्था ही बढ़ेगी।

भावार्थ—हम 'प्राची दिक्' का ध्यान करते हुए आगे बढ़ें। इस दिशा के अधिपति 'अग्नि' बनें। विषयों से अबद्ध होकर आगे बढ़ते चले जाएँ। सूर्य से आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करें। इन सब अग्नि आदि के लिए आदर का भाव रखें। जो द्वेष करे, उसे उन्हें सौंप दें, जिससे वे उसे उचित दण्ड आदि की व्यवस्था से द्वेषरहित करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दक्षिणा, इन्द्रः, तिरश्चिराजिः, पितरः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)**।

दक्षिणा दिक्

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ २॥

१. **दक्षिणा दिक्**=दाक्षिण्य की दिशा है। जो भी व्यक्ति 'प्राची' का पाठ पढ़कर निरन्तर आगे बढ़ता चलेगा, वह उस-उस कार्य में अवश्य निपुण बनेगा ही। इस नैपुण्य के कारण इसका ऐश्वर्य वृद्धि को प्राप्त होगा, अतः इस दिशा का **अधिपतिः**=स्वामी **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली है। २. इस नैपुण्य की **रक्षिता**-रक्षक **तिरश्चिराजी**=पशु-पक्षियों की पंक्ति हैं। प्रभु ने इनमें वासनात्मकरूप (instinct) से दाक्षिण्य रक्खा है। मधुमक्षिका किस अद्भुत कुशलता से फूलों से रस लेती है और शहद का निर्माण करती है। चील किस कुशलता से आकाश में पंख हिलाये बिना ही उड़ती जाती है। सिंह का नदी को सीधा तैरना कितना विस्मयकारक है। ३. इस नैपुण्य के लिए **इषवः**-प्रेरणा देनेवाले **पितरः**-माता-पिता हैं। ये अपने सन्तानों को निरन्तर निपुण बनने की प्रेरणा देते रहते हैं। (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—हम दक्षिण दिशा से नैपुण्य प्राप्त करने का संकेत ग्रहण करें। नैपुण्य हमें ऐश्वर्यशाली बनाएगा। प्रभु ने इस नैपुण्य को पशु-पक्षियों में रक्खा है। माता-पिता सदा इस नैपुण्य के लिए सन्तानों को प्रेरणा देते रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**प्रतीची, वरुणः, पृदाकुः, अन्नम्**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

प्रतीची दिक्

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ऐश्वर्य प्राप्त करके कहीं हम इन्द्रिय-विषयों में आसक्त न हो जाएँ, अतः **प्रतीची दिक्**=प्रतीची दिक् आती है और हमें 'प्रति अञ्च' वापस लौटने का उपदेश देती है। यही योग में 'प्रत्याहर' कहलाता है। इन्द्रियों को विषयों से वापस लाना ही 'प्रतीची' का पाठ है। इस प्रत्याहार का **अधिपतिः**=स्वामी **वरुणः**=वरुण है—इन्द्रियों को विषयों से निवारित करनेवाला। इस प्रत्याहार से इसका जीवन श्रेष्ठ बनता है 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'। २. इस प्रत्याहार की **रक्षिता**-रक्षा करनेवाली यह **पृदाकुः**-पालन व पूरण के लिए (पृ) सब कुछ देनेवाली (दा) यह पृथिवी (कु) है। यह अपने से दूर गई हुई वस्तुओं को फिर से अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसीप्रकार हमें भी दूर भटकी हुई इन्द्रियों को लौटना है। ३. नहीं

लौटाएँगे तो इन्द्रियाँ भोगों में फँस जाएँगी और हम रोगाक्रान्त व दुर्बल जाठरग्निवाले होकर सामान्य अन्न भी न खा सकेंगे, अतः यह **अन्नम्**-अन्न ही **इषवः**-इस प्रत्याहार की प्रेरणा दे रहा है, मानो यह कह रहा है कि इन्द्रियों को विषयासक्ति से रोको, अन्यथा कुछ वर्षों बाद तुम मुझे भी आस्वादित नहीं कर पाओगे। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम ऐश्वर्य को प्राप्त करके प्रत्याहार का पाठ पढ़ें। यही श्रेष्ठ बनने का मार्ग है। जैसे पृथिवी दूरङ्गत वस्तुओं को अपनी ओर खेंचती है, उसी प्रकार हम इन्द्रियों को विषयव्यावृत करें तभी हम अन्त तक जाठराग्नि के ठीक रहने से अन्न को आस्वादित कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उदीची, सोमः, स्वजः, अशनिः,**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

उदीची दिक्

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रत्याहार का पाठ पढ़ने पर हम उन्नत होंगे। यही '**उदीची दिक्**' का सन्देश है 'उद् अञ्च' ऊपर चलें—उन्नति करते चलें। इस उन्नति की दिशा का **अधिपतिः** स्वामी **सोमः** सोम है—सौम्य स्वभाव का, विनीत। वस्तुतः वास्तविक उन्नति की पहचान है ही 'विनीतता'। भतृहरि के शब्दों में '**नम्रत्वेनोन्नमन्तः**' नम्रता से ही ये अधिक उन्नत होते हैं। २ इस उन्नति का **रक्षिता** रक्षक **स्वजः** खूब क्रियाशीलता है—'अज गतौ'। क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकता हुआ यह उन्नत और उन्नत होता चलता है। **अशनिः** अग्नि इस दिशा की **इषवः** प्रेरक है। अग्नि की लपट सदा ऊपर जाती है। सदा ऊपर जाती हुई यह अग्नि की लपट हमें भी ऊपर उठने की प्रेरणा देती है। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहरण हमें ऊपर ले-चलता है। उन्नत पुरुष विनीत बनता है। क्रियाशीलता द्वारा मलों को दूर फेंकता हुआ यह उन्नति का रक्षक होता है। आग की ऊर्ध्वमुखी ज्वाला से यह ऊपर और ऊपर उठने की प्रेरणा लेता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ध्रुवा, विष्णुः, कल्माषग्रीवः, वीरुधः**॥ छन्दः—**भुरिगष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

ध्रुवा दिक्

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमें ऊपर और ऊपर उठना है। ऊपर उठने के लिए आधार का ध्रुव (स्थिर) होना आवश्यक है, अतः **ध्रुवा दिक्** स्थितरता की दिशा ध्रुवता का संकेत करती है। अपने आधार को हम बड़ा दृढ़ बनाएँ। नींव जीतनी विशाल होगी उतना ही ठीक, अतः इस दिशा का **अधिपतिः**-स्वामी **विष्णुः** (विष् व्याप्तौ) व्यापक उन्नतिवाला है। यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को खूब विकसित करने का प्रयत्न करता है। २. इस ध्रुवा दिक् का **अधिपतिः** स्वामी **कल्माषग्रीवः**-चित्रित कण्ठवाला है। विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाला व्यक्ति ही उन्नति की ध्रुव नींव की स्थापना करता है। **वीरुधः** प्रतानिनी लताएँ—फैली हुई बेलें **इषवः**-प्रेरणा दे रही हैं, मानो ये कह रही हैं कि तुम भी हमारी भाँति अपने को फैलाओ। जितना अपने को फैलाओगे, उतनी ही तुम्हारी नींव दृढ़ बनेगी और तुम अधिक उन्नत हो सकोगे। (शेष

पूर्ववत्)

भावार्थ—हम अपनी उन्नति के आधार को दृढ़ बनाएँ। शरीर, मन, मस्तिष्क—तीनों को उन्नत करें। विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले हों तथा फैली हुई बेलों से व्यापकता की प्रेरणा लें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ऊर्ध्वा, बृहस्पतिः, श्वित्रः, वर्षम्** ॥ छन्दः—**अष्टिः (पञ्चपदाः)** ॥

ऊर्ध्वा दिक्

ऊ॒र्ध्वा दि॒ग्बृह॒स्पति॒रधि॑पतिः श्वि॒त्रो र॑क्षि॒ता व॒र्षमिष॑वः।
तेभ्यो॒ नमोऽधि॑पतिभ्यो॒ नमो॑ रक्षि॒तृभ्यो॒ नम॒ इषु॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यो अस्तु।
यो॒३॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यदि हम अपनी उन्नति के आधार को ध्रुव बनाएँगे तो उन्नति करते-करते 'ऊर्ध्वा दिक्' में अवस्थित होंगे। यह जीव की उन्नति की चरम सीमा है। इसका **अधिपतिः**=स्वामी **बृहस्पतिः**-ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला 'ब्रह्मणस्पति' है। २. इस चरम उन्नति का **रक्षिता**=रक्षक **श्वित्रः**-श्वेत, शुद्ध, उज्ज्वल जीवनवाला है। धर्ममेघ समाधि की स्थिति में योगी को अनुभव होनेवाली **वर्षम्**=आनन्द की वर्षा **इषवः**=प्रेरक है, मानो यह कह रही है कि इस ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचो और उद्भुत आनन्द का अनुभव करो। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—उन्नति के आधार को व्यापक और ध्रुव बनाकर हम ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचे। यहाँ पहुँचने पर हम बृहस्पति कहलाएँगे। जीवन को शुद्ध बनाकर इस ऊर्ध्वतम स्थिति का रक्षण करें और परिणामतः एक आनन्द की वृष्टि का अनुभव करें।

विशेष—इस ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचनेवाला ब्रह्मा कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरीगर्भाचतुष्पदातिजगति** ॥

वेदवाणी का महत्त्व

एकै॑कयै॒षा सृ॒ष्ट्या॒ सं ब॑भूव॒ यत्र॒ गा अस॑जन्त भू॒तकृ॑तो वि॒श्वरू॑पाः।
यत्र॑ वि॒जाय॑ते य॒मिन्य॑प॒र्तुः सा प॒शून्क्षि॑णाति रिफ॒ती रुश॑ती॥ १॥

१. **एषा**-यह ब्रह्मा से जानी जानेवाली वेदवाणी **एकैकया**=प्रत्येक **सृष्ट्या**-सृष्टि के साथ **संबभूव**-सम्यक् प्रादुर्भूत होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसका ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' के द्वारा ब्रह्मा में स्थापित किया जाता है। **यत्र**=जिस वेदवाणी में **भूतकृतः**=(भूत=Well-being, welfare) शुभ, मङ्गल व स्वास्थ्य देनेवाली **गाः**-वाणियाँ **असृजन्त**=विसृष्ट होती हैं। ये वाणियाँ **विश्वरूपाः**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाली हैं, सब पदार्थों का ज्ञान देकर ही वस्तुतः ये हमारा मङ्गल करती हैं। २. **यत्र**-इन वेदवाणियों का स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति संयत बुद्धि को प्राप्त करता है, उस बुद्धि को जोकि मन का शासन करनेवाली होती है, नकि मन से शासित होती है। ३. वेदवाणियों के—ज्ञान की वाणियों के अध्ययन के अभाव में जब वह बुद्धि **अपर्तुः (जायते)**=ऋतु-क्रम—नियमित गति से रहित, उच्छृंखल-सी हो जाती है तब **सा**-वह **पशून्**=पशुओं को **क्षिणाति**=हिंसित करती है, मांसाहार व शिकार की ओर झुकती है। मन से शासित होकर यह ठीक सोच ही नहीं पाती। यह **रिफती**-कड़वे शब्दों का उच्चारण (to utter a rough grunting sound) करती है और **रुशती**=औरों को तंग करती है (to tease)। ज्ञान की ओर झुकाव न होने पर मनुष्य शिकार (मांसाहार) में प्रवृत्त होता है, कड़वी वाणी

बोलता है तथा औरों को तंग करने में स्वाद लेता है।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में वेद ज्ञान देते हैं। यह वेदवाणी सब पदार्थों का निरूपण करती हुई हमारा शुभ करती है। इसके अध्ययन से बुद्धि संयत बनती है, अन्यथा मनुष्य शिकार में, कड़वे शब्द बोलने में व औरों को तंग करने में लगा रहता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्रव्यात् व्यद्वरी Vs (बनाम) स्योना शिवा (बुद्धि)

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद्भूत्वा व्यद्वरी।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात्॥ २॥

१. **एषा** यह गतमन्त्र में वर्णित अपर्तु (नियमित गति से रहित) बुद्धि **पशून्** पशुओं को **संक्षिणाति** नष्ट करती है। यह **व्यद्वरी**=(वि+अद्)शास्त्र विरुद्ध भोजनों को खानेवाली **भूत्वा** होकर **क्रव्यात्**-मांसाहारवाली हो जाती है। २. यदि मनुष्य **उत** निश्चय से **एनाम्**-इस बुद्धि को अपर्तु न होने देकर, **ब्रह्मणे दद्यात्** ज्ञान के लिए दे दे—ज्ञान-प्राप्ति में ही लगादे तो **तथा** वैसा करने पर **स्योना** सुखदा व **शिवा**-कल्याण-ही कल्याण करनेवाली **स्यात्**-हो।

भावार्थ—बुद्धि को ज्ञान प्राप्ति में लगाएँ तो यह सुख व कल्याण करनेवाली होती है, अन्यथा अनियमित गतिवाली होकर शास्त्र विरुद्ध भोजनों को खाने लगती है, मांसाहार करती हुई पशुओं का संहार करती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिक्षा (बुद्धि)

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ ३॥

१. हे यमिनि बुद्धे! तू **पुरुषेभ्यः**-सब पुरुषों के लिए **शिवा भव** कल्याणकारी हो। किसी के लिए कड़वी बात न बोल, किसी को तंग न कर (न रिफती, न रुशती)। **गोभ्यः, अश्वेभ्यः** गौ व घोड़े आदि पशुओं के लिए भी **शिवा** कल्याण करनेवाली हो (न क्रव्यात्—मांसाहार करनेवाली नहीं) २. **अस्मै सर्वस्मै** इस सारे **क्षेत्राय**-क्षेत्र के लिए—शरीरमात्र के लिए (इदं शरीरम् कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते), **शिवा** तू कल्याणकर हो। **इह**=यहाँ, इस जीवन में **नः** हमारे लिए **शिवा एधि**-कल्याणकर हो।

भावार्थ—हमारी बुद्धि यमिनी हो नकि अपर्तु। यह सब पुरुषों के साथ मधुर व्यवहार करे और पशुओं को हिंसित करनेवाली न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**यवमध्याविराट्ककुप्** ॥

पुष्टि+रस

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव। पशून्यमिनि पोषय॥ ४॥

१. यमिनी बुद्धि के कारण **इह** यहाँ—हमारे घरों में **पुष्टिः**-उचित पोषण हो। **इह** यहाँ **रसः** रस हो—आपस के मधुर व्यवहार के कारण आनन्द ही आनन्द हो। २. हे **यमिनि** संयत बुद्धि! तू **इह** यहाँ **सहस्रसातमा** सहस्रों धनों को अतिशयेन प्राप्त करनेवाली **भव** हो। २. तू **पशून्**-पशुओं को **पोषय** पुष्ट कर, इनका संहार करनेवाली न हो।

भावार्थ—यमिनी (संयत) बुद्धि हमारा पोषण करती है, हमारे व्यवहार को रसमय बनाती है तथा हमें मांसाहार से दूर रखती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्ग

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च॥ ५॥

१. **यमिनी**=संयमवाली—मन को शासित करनेवाली (मनीषा) बुद्धि **तं लोकं अभि संबभूव**=उस लोक को लक्ष्य करके सत्तावाली होती है, अर्थात् उस लोक को जन्म देती है, **यत्र**=जहाँ **सुहार्दः**=उत्तम हृदयवाले **सुकृतः**=उत्तम कर्म करनेवाले लोग **स्वायाः तन्वः**=अपने शरीर के **रोगं विहाय**=रोग को छोड़कर **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् जब तक बुद्धि का शासन रहता है तब तक (क) लोगों के हृदय उत्तम रहते हैं, (ख) उनके कर्म उत्तम होते हैं, (ग) शरीर नीरोग होते हैं। २. **सा**=वह यमिनी बुद्धि **नः**=हमारे **पुरुषान्**=पुरुषों को **च**=और **पशून्**=पशुओं को **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे। यह यमिनी बुद्धि पुरुषों के साथ कर्कश भाषा में व्यवहार नहीं करती और न ही उन्हें पीड़ित करती है। मांसाहार से दूर होने के कारण यह पशुओं का संहार भी नहीं करती। इसप्रकार यह 'यमिनी' स्वर्गलोक का निर्माण करती है।

भावार्थ—जब बुद्धि **यमिनी-मनीषा**-मन का शासन करनेवाली होती है तब १. लोगों के हृदय उत्तम होते हैं, २. उनके कर्म उत्तम होते हैं, ३. शरीर नीरोग होते हैं, ४. पुरुषों के प्रति इनका व्यवहार मधुर होता है, ५. मांसाहार के प्रति अरुचि के कारण यह पशुओं का संहार नहीं करती। इसप्रकार यमिनी बुद्धि घर को स्वर्ग बना देती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

उत्तम हृदय, उत्तम कर्म, अग्निहोत्र

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च॥ ६॥

१. **यमिनी**-संयमवाली बुद्धि **तं लोकं अभि**=उस लोक का लक्ष्य करके **संबभूव**=सत्तावाली होती है, अर्थात् उस लोक को जन्म देती है, **यत्र**-जहाँ **सुहार्दाम्**-उत्तम हृदयवालों का तथा **सुकृताम्**=उत्तम कर्म करनेवालों का **लोकः**-लोक होता है। उस लोक को जन्म देती है **यत्र**-जहाँ **अग्निहोत्रहुताम्**-अग्निहोत्र करनेवालों का **लोकः**=लोक होता है। २. **सा**-वह यमिनी बुद्धि **नः**-हमारे **पुरुषान्**-पुरुषों को **मा हिंसीत्**-मत हिंसित करे **च**-और **पशून्**-पशुओं को भी मत हिंसित करे, अर्थात् मांसाहार के प्रति रुचिवाली न हो।

भावार्थ—यमिनी बुद्धि लोगों के हृदयों व कर्मों को उत्तम बनाती है तथा उन्हें अग्निहोत्र की प्रवृत्तिवाला करती है। यह बुद्धि पुरुषों व पशुओं को हिंसित नहीं करती।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि उद्दालक है—राष्ट्र में से सब बुराइयों का दलन करनेवाला। सूक्त का देवता 'शितिपाद् अवि' है—शुद्ध (शिति) गतिवाला रक्षक। राजा उद्दालक है। शुद्ध गतिवाला यह रक्षक है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

राजा को प्रजाकृत पुण्य के सोलहवें भाग की प्राप्ति

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा॥ १॥

१. **यत्**-जो **राजानः**-प्रजा के जीवन को व्यवस्थित बनानेवाले—प्रजा पर शासन करनेवाले, **यमस्य** उस नियन्ता सभापति (राष्ट्रपति) के **अमी**-वे **सभासदः**=सभासद् लोग **इष्टापूर्तस्य**-प्रजा से किये जानेवाले यज्ञों व दान पुण्य के कर्मों (वापी, कूप, तडागादि के बनवानेरूप कर्मों) के **षोडशम्**-सोलहवें भाग को **विभजन्ते**=विभक्त कर लेते हैं, अर्थात् शासकवर्ग से सुरक्षित प्रजा जिन उत्तम कर्मों को करती है, उनका सोलहवाँ भाग इन शासकों को प्राप्त होता है। प्रजारक्षण के कार्य में व्यग्र हुए-हुए ये लोग यज्ञादि के लिए समय नहीं निकाल पाते, परन्तु प्रजा जिन यज्ञादि कर्मों को करती है, उनका सोलहवाँ भाग इन्हें प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रजा कमाती है और उसका सोलहवाँ भाग कर के रूप में देती है, इसीप्रकार इन राजाओं को प्रजा के पुण्य का भी सोलहवाँ भाग प्राप्त होता है। **तस्मात्**-उस सोलहवें भाग को प्राप्त करने के कारण **अविः**=यह रक्षण करनेवाला राजा **प्रमुञ्चति**-प्रजा को चोरों व डाकुओं आदि के भय से मुक्त करता है। इन भयों से मुक्त प्रजा ही कमा सकेगी तथा यज्ञ आदि कर पाएगी। २. **दत्तः**=(दत्तं यस्मै सः) जिस राजा के लिए इन पुण्यों का सोलहवाँ भाग दिया गया है, वह राजा **शितिपात्**-सदा शुद्ध गतिवाला होता है। वह शिकार खेलना आदि व्यसनों में नहीं फँसता। इसे प्रजा-रक्षण के कार्य से अवकाश ही नहीं मिलता। यह **स्वधा**-अपनी प्रजा का धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रजा का रक्षक राजा प्रजा से किये गये पुण्य कार्यों के भी सोलहवें भाग को प्राप्त करता है। वह स्वयं शुद्ध आचरणवाला होता हुआ प्रजारक्षण में लगा रहता है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आभवन्, प्रभवन्, भवन्

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन्।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

१. **दत्तः**=जिस राजा के लिए प्रजा से कर व पुण्य का सोलहवाँ भाग दिया गया है, वह राजा **अविः**-प्रजा का रक्षक होता है। **सर्वान् कामान् पूरयति**=वह प्रजा की सब कामनाओं को पूर्ण करता है। यह **आभवन्**-प्रजा में चारों ओर होता है, अर्थात् प्रजा में व्याप्त रहता है, सदा प्रजा में घूमता है, **प्रभवन्** शक्तिशाली होता है, **भवन्** वर्धिष्णु होता है। २. यह **आकूतिप्रः** प्रजाओं के संकल्पों का पूर्ण करनेवाला होता है। यह **शितिपात्**=शुद्ध आचरणवाला—व्यसनों में न फँसनेवाला राजा **न उपदस्यति**-अपने प्रजारूप शरीर को नष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ—प्रजा से कर प्राप्त करनेवाला यह राजा प्रजा में व्याप्तिवाला बनता है, शक्तिशाली होता है, प्रजा का वर्धन करता है तथा प्रजा की कामनाओं को पूर्ण करता है और प्रजा को नष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

राष्ट्र-स्वर्ग

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

१. **यः**-जो प्रजावर्ग **शितिपादम्** शुद्ध आचरणवाले **अविम्**-रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोक से मानपूर्वक बनाये गये—राष्ट्रसभा से निर्धारित 'कर' **ददाति**-देता है, **सः**=वह प्रजावर्ग **नाकम्**-स्वर्ग को **अभ्यारोहति**-आरूढ़ होता है। यदि प्रजा राष्ट्रसभा से निर्धारित कर

को सभा के लिए देती रहती है तो राष्ट्र की व्यवस्था बड़ी सुन्दर बनी रहती है। राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाता है। २. यह राष्ट्र इसप्रकार का स्वर्ग होता है **यत्र**-जहाँ कि **अबलेन**=निर्बल से **बलीयसे**-बलवान् के लिए **शुल्कः**=कोई दण्डरूप धन **न क्रियते**=नहीं किया जाता है, अर्थात् इस राष्ट्र में सबल निर्बल पर अत्याचार नहीं करता है। राष्ट्र में चोर और डाकू औरों के धन को नहीं छीनते रहते। कर प्राप्त करनेवाले राजा का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वह प्रजा का रक्षण करे, बलवानों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार न होने दे। इसप्रकार जब प्रजा राष्ट्र में निर्भय विचरेगी तब यह राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाएगा।

भावार्थ-प्रजा राष्ट्रसभा को निर्धारित कर देनेवाली हो। राजा प्रजा का रक्षण करे। राजा इस बात का ध्यान करे कि राष्ट्र में मात्स्यन्याय न फैल जाए, सबल निर्बल को न खाने लगे। राष्ट्र में सब सर्वत्र निर्भय विचर सकें, राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाए।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पितृणां लोके

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम्॥ ४॥

१. **पञ्चापूपम्**=(पञ्च, अ, पूप=पूपी विशरणे) राष्ट्र के 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद'-इन पाँचों का विशीर्ण न होने देनेवाले, अथवा 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व मध्य'—देश के इन पाँचों भागों में रहनेवाली प्रजा को विशीर्ण न होने देनेवाले **शितिपादम्**=शुद्ध गतिवाले, विषयों में अनासक्त **अविम्**-रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोगों के प्रतिनिधियों से राष्ट्रसभा में निर्धारित-मानपूर्वक निश्चित किये गये कर का **प्रदाता**-देनेवाला प्रजावर्ग **पितृणाम्**=रक्षक राजपुरुषों के **लोके**-लोक में, अर्थात् राजपुरुषों से सुरक्षित राष्ट्र में **अक्षितम्**=अक्षीणता के साथ **उपजीवति**=जीवन धारण करता है। २. राजा का मौलिक कर्त्तव्य एक ही है कि वह चारों दिशाओं और मध्यभाग में स्थित सब प्रजाओं का ठीक से रक्षण करे—उन्हें विशीर्ण न होने दे। राजपुरुष पितरों के समान हों। ये प्रजावर्ग को सन्तान-तुल्य समझें। प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह ठीक प्रकार से कर देनेवाली हो।

भावार्थ— राजा प्रजा का रक्षण करे। राजपुरुष पितरों के समान हों। वे अपने सन्तानरूप प्रजाओं को क्षीण न होने दें।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यामासयोः लोके

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम्॥ ५॥

१. **पञ्चापूपम्**-पाँचों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व मध्य) में स्थित प्रजावर्ग को विशीर्ण न होने देनेवाले **शितिपादम्**=शुद्ध आचरणवाले **अविम्**=रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोकों के प्रतिनिधियों से राष्ट्रसभा में निर्धारित कर का **प्रदाता**=देनेवाला प्रजावर्ग **सूर्यामासयोः**=सूर्य-चन्द्रमा के लोक में (मस्यते क्षयवृद्धिभ्यां परिमीयते इति मासः चन्द्रमाः), **अक्षितम्**-अक्षीणता के साथ **उपजीवति**=निवास करता है, अर्थात् दिन-रात फूलता-फलता है। २. प्रजा जब राजा को ठीक से कर देती रहती है तब राजा दिन-रात प्रजा का रक्षण करता है। प्रजा दिन में निर्भय होकर अपने व्यापार आदि कर्मों को करती है और रात्रि में निर्भयता

से विश्राम करती है। राजा 'जागृवि' है—सदा जागरूक होकर प्रजा का रक्षण करता है।

भावार्थ—राजा के लिए निश्चित कर देनेवाली प्रजा दिन रात राजा से सुरक्षित हुई हुई दिन में अपने अपने कार्यों को करती हुई रात्रि में निर्भयता से विश्राम करती है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इरा इव, समुद्र इव, सवासिनौ देवौ इव

इरेव नोप दस्यति समुद्रइव पयो महत्।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति॥ ६॥

१. **इरा इव**=इस भूमि के समान **शितिपात्**-शुद्ध आचरणवाला राजा **न उपदस्यति**-प्रजा का कभी क्षय नहीं करता। भूमि माता के समान सदा अन्नों को देनेवाली है। इसीप्रकार राजा प्रजा को कभी अन्नाभाव से मृत नहीं होने देता। २.यह सदाचारी राजा **समुद्रः इव**-समुद्र के समान **महत् पयः** महान् जल राशि है। समुद्र का जल क्षीण नहीं होता। इस राजा का कोश भी सदा परिपूर्ण रहता है। ३. **सवासिनौ**-सदा साथ रहनेवाले **देवौ इव**-प्राणापानरूप अश्विनीदेवों के समान यह राजा है। यह प्रजा में प्राणशक्ति का सञ्चार करता है, प्रजा से मलिनताओं को दूर करता है। इसप्रकार यह शितिपात् राजा **न उपदस्यति** प्रजा का क्षय नहीं करता।

भावार्थ—राजा प्रजा के लिए अन्नाभाव नहीं होने देता। यह अपने कोष को क्षीण नहीं होने देता। यह प्रजा में प्राणशक्ति का सञ्चार करता हुआ सब मलिनताओं को दूर करता है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**षट्पदा-उपरिष्टाद्दैवीबृहतीककुम्मतीगर्भा-विराड्जगती** ॥

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहिता कामः समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते॥ ७॥

१. राजा के लिए प्रजा कर देती है, राजा प्रजा से कर लेता है। वस्तुतः **कः** कौन **इदम्**-कररूप इस धन को **कस्मै**-किसके लिए **अदात्** देता है **कामः कामाय अदात्**-काम ही काम के लिए देता है। प्रजा में यह कामना होती है कि उसे अन्तः व बाह्य उपद्रवों के भय से कोई रक्षित करनेवाला हो तथा राजा के अन्दर भी 'मैं इतनी विशाल प्रजा का राजा हूँ' ऐसा कहलाए जानेरूप यश की कामना होती है। यह कामना ही प्रजा व राजा के सम्बन्ध को स्थिर रखती है। **कामः दाता** काम ही देनेवाला है, **कामः प्रतिग्रहीता** काम ही लेनेवाला है। २. **कामः समुद्रम् आविवेश**-यह काम समुद्र की भाँति निरवधिक (अनन्त) रूप को प्राप्त होता है '**समुद्र इव हि कामः, नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति**'-(तै० २.२.५.६)। राजा कहता है कि हे कररूप द्रव्य! मैं **त्वा**-तुझे **कामेन**-प्रजारक्षा की कामना से ही **प्रतिगृह्णामि**-लेता हूँ। हे **काम** प्रजारक्षण की इच्छे! **एतत्**-यह सब धन **ते**-तेरा ही है। राजा इस सारे धन का विनियोग प्रजोन्नति के कार्यों में ही करता है।

भावार्थ—प्रजा कर देती है, राजा कर लेता है। यह लेना देना कामना से ही होता है। प्रजा राजा के द्वारा रक्षण की कामना करती है, राजा प्रजारक्षण से प्राप्य यश की कामनावाला होता है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहतिः** ॥

मा प्राणेन, मा आत्मना, मा प्रजया (विराधिषि)

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत्।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि॥ ८॥

१. हे कररूप द्रव्य! **भूमिः त्वा प्रतिगृह्णातु**=यह भूमि तेरा ग्रहण करे। राजा राष्ट्र की रक्षा व राष्ट्र में कृषि आदि कार्यों की उन्नति के लिए कर ग्रहण करे। कर से प्राप्त धन का इन्हीं कार्यों में विनियोग करे। २. **इदम्** यह **महत् अन्तरिक्षम्**-महान् अन्तरिक्ष तेरा ग्रहण करे। कर से प्राप्त धन का विनियोग विस्तृत अन्तरिक्ष को उत्तम बनाने में किया जाए। 'राष्ट्र का सारा वातावरण उत्तम बने', ऐसा राजा का प्रयत्न होना चाहिए। राष्ट्र के शिक्षणालय युवकों के आचार को उत्तम बनाने का ध्यान करें। राष्ट्र में होनेवाले यज्ञ सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता को सिद्ध करें। ३. राजा कहता है कि **अहम्**=मैं **प्रतिगृह्य**=कामरूप में धन लेकर **प्राणेन मा विराधिषि**=प्राणों से वर्जित न हो जाऊँ, भोगों में फँसकर प्राणशक्ति को ही नष्ट न कर लूँ। **मा आत्मना**=मैं भोग-प्रवण होकर आत्मतत्त्व को न भूल जाऊँ, **मा प्रजया**=मैं प्रजा से दूर न हो जाऊँ, सदा प्रजाहित में लगा रहूँ।

भावार्थ—कररूप धनों का विनियोग राष्ट्रभूमि को उन्नत करने व राष्ट्र के वातावरण को अच्छा बनाने में करना चाहिए। राजा धनों का विनियोग भोग-विलास में करके अपनी प्राणशक्ति को क्षीण न कर ले। वह आत्मतत्त्व से दूर न हो जाए। भोग-प्रवण राजा तो प्रजा से दूर और दूर होता जाता है। इसे प्रजाहित की कामना नहीं रहती।

विशेष—अन्नाभाव की कमी से रहित तथा उत्तम वातावरणवाले राष्ट्र में गृहों के अन्दर पति-पत्नी भी **अथर्वा**=न डाँवाडोल वृत्तिवाले होते हैं। इन घरों में सबके हृदय मिले होते हैं, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है तथा देवता 'सांमनस्यम्' है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहृदयं, सांमनस्यं, अविद्वेषम्

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १॥

१. मैं **वः**-तुम्हारे लिए **सहृदयम्**=सहृदयता, अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, **सांमनस्यम्**=शुभ विचारों से परिपूर्ण मन और **अविद्वेषम्**=निर्वैरता **कृणोमि**=करता हूँ। २. तुममें से प्रत्येक **अन्यः अन्यम्**-एक-दूसरे को **अभिहर्यत**-प्रीति करनेवाला हो, **इव**-जैसे **अघ्न्या**-गौ **जातं वत्सम्**-उत्पन्न हुए-हुए बछड़े के प्रति प्रेम करती है।

भावार्थ—घर में सहृदयता, सांमनस्य व अविद्वेष का राज्य हो। सब एक-दूसरे के प्रति प्रेम करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुव्रत पुत्र+मधुर पत्नी

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्॥ २॥

१. **पुत्रः** पुत्र **पितुः**-पिता के **अनुव्रतः** अनुकूल कर्म करनेवाला हो, **मात्रा संमनाः भवतु**-माता के साथ सांमनस्यवाला हो, माता के प्रति शुभ विचारों से परिपूर्ण मनवाला हो। २. **जाया**-पत्नी **पत्ये** पति के लिए **मधुमतीम्**=माधुर्य से भरी हुई **वाचं वदतु**-वाणी को बोले। **शान्तिवान्**-शान्तिशील पति भी पत्नी के साथ मीठी वाणी बोले।

भावार्थ—पुत्र माता-पिता का आज्ञाकारी हो तथा पत्नी पति के प्रति मधुर व्यवहारवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर प्रेम व भद्र व्यवहार

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

१. **भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्**-भाई भाई से द्वेष न करे **उत**-और **स्वसा** बहिन **स्वसारम् मा**-बहिन से द्वेष न करे। २. **सम्यञ्चः**=समान गतिवाले **सव्रताः भूत्वा**-समान कर्मोंवाले होकर **भद्रया**-बड़ी कल्याणमयी रीति से **वाचं वदत** वाणी को बोलो, परस्पर भद्रता से वार्तालाप करो।

भावार्थ—भाई बहिनों में परस्पर प्रेम हो। सब परस्पर अविरुद्ध गतिवाले हों और वाणी को भद्रता से बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता-साधक ज्ञान

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥

१. **येन**-जिससे **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **न वियन्ति** परस्पर विरुद्ध गतिवाले नहीं होते **च**-और **मिथः**-परस्पर **नो विद्विषते**=द्वेष नहीं करते **तत्** उस **ब्रह्म** ज्ञान को **वः गृहे**-तुम्हारे घरों में **कृण्मः** करते हैं। २. यह ज्ञान **पुरुषेभ्यः**-पुरुषों के लिए **संज्ञानम्**=परस्पर ऐक्यमत्य का उत्पादक होता है। ज्ञान प्राप्त करके पुरुष परस्पर सांमनस्यवाले होते हैं।

भावार्थ—घर में सबकी वृत्ति ज्ञानप्रधान होगी तो परस्पर एकता बनी रहेगी। ज्ञान के साथ द्वेषवृत्ति नहीं रहती।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

घर का नियम (बड़ों का आदर)

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ ५॥

१. **ज्यायस्वन्तः**-बड़ों को मान देनेवाले **चित्तिनः**=उत्तम चित्तवाले **संराधयन्तः**-मिलकर कार्य को सिद्ध करनेवाले, **सधुराः**-समान कार्यभार का वहन करनेवाले, **चरन्तः**-क्रियाशील होते हुए **मा वियोष्ट**-विरोधवाले मत होओ—एक-दूसरे से अलग मत होओ। २. **अन्यः अन्यस्मै** एक दूसरे के लिए **वल्गु वदन्तः एत**=मधुर भाषण करते हुए गति करो। **वः**-तुम्हें **सध्रीचीनान्**-मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले व **संमनसः**-एक विचार से युक्त मनवाले **कृणोमि**-करता हूँ।

भावार्थ—घर में बड़ों का आदर हो, सब मिलकर-अविरुद्धभाव से कार्य करें। परस्पर प्रिय बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सब-कुछ सम्मिलित

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

१. **प्रपा समानी**=तुम्हारा जल पीने का स्थान एक हो। **वः अन्नभागः सह**=तुम्हारा अन्न का भाग भी साथ-साथ हो, **समाने योक्त्रे**=एक ही जोते में **वः सह युनज्मि**=मैं तुम्हें साथ-साथ जोड़ता हूँ। २. **सम्यञ्चः**=मिल-जुलकर **अग्निं सपर्यत**=उस प्रभु का पूजन करो, **नाभिं अभितः अरा इव**=जैसे नाभि में चारों ओर चक्र के अरे जड़े होते हैं। नाभि के चारों ओर अरों के समान हम मिलकर घर में प्रभु-पूजन व अग्निहोत्र करें।

भावार्थ—घर में खान-पान सब सांझा हो। सब मिलकर घर को अच्छा बनाने में लगे हों, मिलकर प्रभु-पूजन व अग्निहोत्र करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रातः-सायं परस्पर प्रेम से मिलना

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवाइवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

१. मैं **वः**=तुम सबको **सध्रीचीनान्**=एक कार्य के करने में साथ-साथ उद्युक्त **संमनसः**=समान मनवाला **कृणोमि**=करता हूँ, **सर्वान्**=तुम सबको **संवननेन**=सम्यक् विभागपूर्वक **एकश्नुष्टीन्**=एक प्रकार के ही अन्नों का भोजनवाला करता हूँ। २. **अमृतं रक्षमाणा देवाः इव**=नीरोगता का रक्षण करनेवाले देवों के समान **वः**=तुम्हारा **सायं-प्रातः**=सायं-प्रातः **सौमनसः अस्तु**=सौमनस्य-शोभन मनस्कता हो, तुम परस्पर प्रेमयुक्त मनवाले होकर परस्पर बात करनेवाले होओ।

भावार्थ—घर में सब मिलकर कार्य करें, समान भोजनवाले हों, नीरोग रहते हुए प्रातः-सायं परस्पर प्रेम से मिलें।

विशेष—इसप्रकार उत्तम वातावरणवाले घरों के अन्दर ज्ञानप्रधान वृत्ति के कारण 'ब्रह्मा' का प्रादुर्भाव होता है। उन्नति करते-करते मनुष्य ब्रह्मा बनता है, ज्ञानाग्नि में सब पापों को भस्म करनेवाला 'पाप्महा' होता है। अगले सूक्त में इस 'पाप्महा' का ही वर्णन है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जीर्णता व अदानशीलता=पाप व रोग

वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अरात्या। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **जरसा**=जीर्णता से **वि अवृतन्**=व्यावृत्त होते हैं—दूर रहते हैं। **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **अरात्या**=अदान से सदा दूर हैं। आप सदा देनेवाले होते हैं। २. **अहम्**=मैं **सर्वेण**=सब **पाप्मना**=पापों से **वि**=दूर रहूँ, परिणामतः **यक्ष्मेण वि**=रोगों से भी दूर होता हूँ और **आयुषा सम्**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन से संयुक्त होता हूँ।

भावार्थ—हम देव बनकर जीर्णता से दूर रहें। प्रभु की उपासना करते हुए अदानवृत्ति से दूर रहें। पापों व रोगों से रहित होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करें। वस्तुतः जीर्णता व अदानशीलता ही पापों व रोगों का कारण बनकर जीवन के ह्रास का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पवित्रता व शक्ति

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ २॥

१. **पवमानः**=अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला पुरुष **आर्त्या वि**=पीड़ाओं से पृथक् रहता है। जीवन की अपवित्रता ही विविध पीड़ाओं का कारण बनती है। २. **शक्रः**=शक्तिशाली पुरुष **पापकृत्यया वि**=पाप कर्मों से दूर रहता है। निर्बलता पाप का कारण बनती है। मैं भी सब पापों व रोगों से दूर होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवनवाला बनता हूँ।

भावार्थ—हम जीवन को सदा पवित्र रखने का प्रयत्न करें, यही पीड़ाओं से बचने का मार्ग है। शक्तिशाली बनकर हम पाप कर्मों से दूर रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप की अप्रवृत्ति

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्याप्स्तृष्णयासरन्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ३॥

१. **ग्राम्याः पशवः**=गौ, भेड़, बकरी आदि ग्राम्य पशु **आरण्यैः**=सिंह-व्याघ्र आदि वन्य पशुओं से **वि**=दूर रहते हैं। ये स्वभावतः इकट्ठे नहीं रहते। **आपः**=जल **तृष्णया वि असरन्**=प्यास से दूर रहते हैं, जलरहित प्राणियों को ही प्यास सताती है। इसीप्रकार मैं पाप और रोग से दूर रहूँ तथा दीर्घजीवन से संगत होऊँ। २. पाप की ओर मेरा झुकाव ही न हो, तब मैं पापों व रोगों से पृथक् होकर दीर्घजीवन से संगत होऊँ।

भावार्थ—मैं स्वभावतः ही पापवृत्ति से दूर हो जाऊँ, पाप की ओर मेरा झुकाव न रहे, तब पापों व रोगों से पृथक् होकर मैं दीर्घजीवन से संयुक्त होऊँगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

पापों से इतना दूर जितना कि द्युलोक पृथ्वीलोक से

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ४॥

१. परिदृश्यमान **इमे**=ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वि इतः**=स्वभावतः अलग-अलग ही हैं। इसीप्रकार मैं भी पाप से उतना ही दूर होऊँ जितना कि द्युलोक पृथ्वीलोक से। २. **दिशं दिशम्**=एक ग्राम से प्रत्येक दिशा में जाते हुए **पन्थानः**=मार्ग **वि**=स्वभावतः ही विगत व पृथगवस्थान होते हैं, इसीप्रकार मैं भी पापों से भिन्न मार्गवाला होता हूँ। मैं पापों से पृथक् होता हूँ, रोगों से पृथक् होता हूँ और दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

भावार्थ—पापों से मैं इतनी दूर होऊँ जितना कि द्युलोक पृथिवीलोक से। पापों व रोगों का तथा मेरा मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओं में हो। इसप्रकार मेरा जीवन दीर्घ व उत्कृष्ट हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

पापों से ऐसे दूर जैसे दहेज पितृगृह से दूर

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ५॥

१. **त्वष्टा**=(त्विषेः दीप्तिकर्मणः) एक समझदार पिता **दुहित्रे**=अपनी दुहिता के लिए **वहतुम्**=दहेज को (उह्यते जामातृगृहं प्रति) **युनक्ति**=देने के लिए अलग करता है, **इति**=इसप्रकार **इदं विश्वं भुवनम्**=यह सारा संसार **वियाति**=अलग-अलग चलता है, संसार में लोग एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। कन्या पितृगृह से दूर हो जाती है। २. इसीप्रकार मैं भी पापों से पृथक् होता हूँ, रोगों से पृथक् होता हूँ और उत्कृष्ट दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार दहेज पितृगृह से पृथक् होकर दूर जामातृगृह में जाता है, इसीप्रकार पाप व रोग मुझसे पृथक् होते हैं। पापों और रोगों से पृथक् होकर मैं दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जाठराग्नि तथा मन की ठीक स्थिति

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ६॥

१. **अग्निः**=भोजन के पाचन का हेतुभूत जाठराग्नि **प्राणान्**=चक्षु आदि इन्द्रियों को **संदधाति**=संश्लिष्ट, स्वस्थ व कार्यसमर्थ करता है। **चन्द्रः**=(चन्द्रमा मनो भूत्वा०) मन **प्राणेन संहितः**=प्राण के संयम से संहित (एकाग्र) होता है। इसीप्रकार मैं पाप व रोग से पृथक् होकर उत्कृष्ट आयुष्य से संहित होऊँ। २. वस्तुतः जाठराग्नि का ठीक रहना और मन का न भटकना ही पापों व रोगों से पार्थक्य का साधन बनता है तथा उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—मैं जाठराग्नि को ठीक रखता हुआ सब इन्द्रियों को ठीक रक्खूँ तथा प्राण-साधना द्वारा मन को एकाग्र करनेवाला बनूँ। इसप्रकार मैं निष्पाप, नीरोग व दीर्घजीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वतो वीर्य सूर्य के सम्पर्क में

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ७॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **विश्वतो वीर्यम्**=सब सामर्थ्यों से युक्त—सारे प्राणदायी तत्त्वों से युक्त **सूर्यम्**=सूर्य को **प्राणेन समैरयन्**=अपने प्राण के साथ सम्प्रेरित करते हैं। इसीप्रकार मैं पापों व रोगों से दूर होकर अपने को उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत करता हूँ। २. वस्तुतः सूर्य के सम्पर्क में जीवन बिताना पापों व रोगों से पार्थक्य का तथा उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सम्पर्क का साधन बनता है।

भावार्थ—मैं सूर्य के सम्पर्क में रहता हुआ अपने में प्राणशक्ति का सञ्चार करूँ और निष्पाप, नीरोग व दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुष्मान् आयुष्कृत्

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ८॥

१. हे माणवक (बालक)! तू **आयुष्मताम्**=प्रशस्त जीवनवाले **आयुष्कृताम्**=दीर्घजीवन को उत्पन्न करनेवाले लोगों के **प्राणेन**=प्राण से **जीव**=जीवन को धारण कर, **मा, मृथाः**=तू मृत मत हो। २. मैं भी इन आयुष्मान्, आयुष्कृत पुरुषों के समान प्राणशक्ति को उत्पन्न करता हुआ

सब पापों व रोगों से पृथक् होऊँ और उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—हम आयुष्मान्, निष्पाप, नीरोग और दीर्घजीवनवाले बनें, दीर्घजीवन के साधनों का अनुष्ठान करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न मरियल जीवन

प्राणेन॑ प्राण॒तां प्राणे॒हैव भ॑व॒ मा मृ॑थाः।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ ९॥

१. **प्राणताम्**=जीवित रहनेवालों के **प्राणेन**=प्राण से **प्राण**=हे प्राणवान् पुरुष! तू जीवित है। **इह एव भव**=यहाँ सूर्य के सन्दर्शन में ही हो। **मा मृथाः**=तू प्राणों का त्याग मत कर। २. मैं भी सब पापों व रोगों से पृथक् होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्राणशक्ति का वर्धन करते हुए हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनें, मरियल-से न हों। मैं निष्पाप, नीरोग, दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ओषधीनां रसेन

उदायु॑षा॒ समायु॒षोदोष॑धीनां॒ रसे॑न।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ १०॥

१. **आयुषा**=आयुष्य के द्वारा **उत्**=मैं मृत्यु से ऊपर उठूँ। **आयुषा सम्**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत होऊँ। **ओषधीनां रसेन**=जौ-चावल आदि ओषधियों के रस के द्वारा **उत्**=मैं रोगों से दूर रहूँ। ओषधियों के रस का प्रयोग करते हुए मैं मृत्यु से बचा रहूँ, रोगों का शिकार न होऊँ। २. मैं सब पापों से पृथक् होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत होऊँ।

भावार्थ—ओषधियों का रस मुझे नीरोग बनाए और दीर्घजीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृष्टि-जल व अमरता

आ प॒र्जन्य॑स्य वृ॒ष्ट्योद॑स्थामा॒मृता॑ व॒यम्।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ ११॥

१. **वयम्**=हम **पर्जन्यस्य वृष्ट्या**=परातृप्ति के जनक मेघ की वृष्टि से—मेघ के वृष्टिजल से **आ**=सब प्रकार से **उत् अस्थाम्**=रोगों से बाहर—दूर स्थित हों और **अमृताः**=नीरोग जीवनवाले बनें। २. मैं सब पापों व रोगों से पृथक् होऊँ और उत्कृष्ट जीवन से संगत होऊँ।

भावार्थ—वृष्टि का जल प्रयोग हमें नीरोगता व अमरता प्रदान करे।

विशेष-यहाँ तृतीय काण्ड समाप्त होता है और चतुर्थ काँड 'वेनः' मेधावी ऋषि के सूक्त से आरम्भ होता है। पूर्ण नीरोग व निष्काम जीवनवाला यह 'वेन' प्रभु का उपासन करता है।

॥ इति तृतीयं काण्डम् ॥